समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि

दिल्ली विश्वविद्यालय की एम॰ लिट्॰ उपाधि के लिए स्वीकृत लघु-शोध-प्रबन्ध

समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि

जयदेव तनेजा

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्राय सभी माध्यमो मे 'चरित्र' विषय पर कुछ न कुछ कार्य अवश्य हुआ है। परन्तु नाटक के संदर्भ मे, विशेषकर समसामयिक हिन्दी नाटको मे चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक सर्वप्रथम विनम्र प्रयत्न है। साहित्यिक चरित्र के बदलते हुए प्रतिमानो के रूप और विश्व परिस्थितियों के साथ-साथ भारतीय परिवेश मे उनके मूल कारणो का अनुसंधान करते हुए पारसी रंगमंच से लेकर सन् सत्तर तक के नाटको का पृष्ठभूमि के साथ मे किया गया विस्तृत विवेचन इस पुस्तक की महत्ता एव उपयोगिता का और अधिक विस्तार करता है।

प्रस्तुत शोध-निबंध आदरणीय डा० लक्ष्मीनारायण लाल के निर्देशन मे लिखा गया है, जिन्होंने मुझे नाटक मे जीवन और जीवन मे नाटक तलाशने की प्रेरणा दी। विभागाध्यक्ष के साथ-साथ मैं विभाग के अन्य सभी गुरुजनो का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से यह कार्य सम्पन्न करने का बल प्रदान किया। मित्रों मे अज्जी, सोम, विपिन और शेरजंग के अतिरिक्त मैं हृदय से आभारी हूँ श्री कृष्ण कुमार गुप्त का जिनके स्नेह, सहानुभूति, सहयोग और सहायता के बिना शायद यह कार्य इस रूप मे पूरा न हो पाता।

और अंजोदीदी की 'अन्नो' के लिए तो यह सब है ही। इस नाम वाली सिद्धि को अधूरे और औपचारिक शब्दो में क्या दू

नयी दिल्ली, १९७१ जयदेव तनेजा

अनुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

पूर्वरंग

जीवन के व्यापक तथा विस्तृत अनुभव, लोक-व्यवहार का ज्ञान, वस्तु व्यापार स्थिति, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, समाज व जीवन के प्रति विकसित हुई अपनी मौलिक दृष्टि, मानव जीवन की व्याख्या और मनोविज्ञान की गहराई, रचनातंत्र (technique) के अभ्यास से प्राप्त सिद्धहस्तता और लेखक के व्यक्तित्व के निर्माण करने वाले तत्त्वों अध्ययन, पाण्डित्य, भावुकता, कल्पना आदि का उत्कर्ष आदि समस्त गुणों व शक्तियों का समवेत परिचय हमें उसकी चरित्र-सृष्टि के द्वारा ही प्राप्त होता है।

भारतीय नाट्य-साहित्य, सम्पादक डा० नगेन्द्र पृ० ११२

ईसा के जन्म से एक-दो सदी इधर या उधर नाट्यशास्त्रकार भरत ने तो नाटक को वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ रूप माना ही था परन्तु आज बीसवीं सदी की सातवीं दशाब्दी के अन्त में केन्द्रीय विधा की मान्यता[1] करने साहित्यकार की दृष्टि का भी अन्तत नाटक पर ही आ टिकना, आकस्मिक नहीं माना जा सकता। आधुनिक चिन्तक मानता है कि हमारे युग की शायद ही कोई महत्वपूर्ण प्रवृत्ति होगी जो आधुनिक नाटक में प्रतिबिम्बित न हुई हो। बल्कि इस युग का बौद्धिक, सामाजिक और संवेदनात्मक इतिहास उसके नाटक-साहित्य के आधार पर ही लिख दिया जा सकता है[2] तथा आधुनिक युग की जटिल, अर्द्ध-अनुभूत और अननुभूत संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नाटक जैसा उपयुक्त अन्य साहित्य रूप नहीं है।[3] अतः स्पष्ट है कि आधुनिक साहित्य विधाओं में नाटक सर्वाधिक सशक्त, प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण विधा है और चरित्र-सृष्टि नाटक तथा नाटककार दोनों की शक्ति-सामर्थ्य की एकमात्र कसौटी है और अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन का मूल सूत्र है।

समसामयिक हिन्दी नाटकों का चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से अध्ययन करने का यह प्रथम प्रयास है, यही इस अनुसंधान की आवश्यकता, मौलिकता एवं उपादेयता है।

१. धर्मयुग . ९ जून, १९६८, राजेन्द्र यादव, पृ० १९

२. हिन्दी-साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य; सच्चिदानन्द वात्स्यायन; पृ० ११६

३. हिन्दी नवलेखन : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १४२

'चरित्र' सृष्टा (साहित्यकार) की मानस-संतान है और इस सृष्टि का सृष्टा, उसका उपकरण 'मनुष्य' एवं उसका देश-काल-परिवेश किस प्रकार परिवर्तित हुए हैं, हो रहे हैं, यह जाने बिना नये चरित्र-बोध की गम्भीर या स्पष्ट विवेचना सम्भव नहीं है। यदि गम्भीरतापूर्वक सोचा जाए कि सदियों से चले आते पात्रों (नायकों) के बने बनाए ढाँचे उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में आकर क्यों अकस्मात् अनुपयुक्त और बेकार सिद्ध हो गये तो ज्ञात होगा कि सृष्टि विकास के आरम्भ से लेकर आज तक दो बार ऐसी क्रान्तिकारी स्थितियाँ आई हैं जब इस सृष्टि का 'जीव' आमूलचूल हिल गया। प्रथम स्थिति तो यह थी जब अमैथुनी अमर जीवों के बाद अचानक मैथुनी सृष्टि अस्तित्व में आई और एक अभूतपूर्व घटना घटी—जीवों का जन्म और मरण। इस प्रकार यह एक ऐसा विराम था जिसने जीवधारी की अमरता को समाप्त कर दिया।[१] अत विकास की दृष्टि से प्रकृति का सबसे बड़ा आविष्कार मृत्यु था। मृत्युभय से आक्रान्त मनुष्य ने ईश्वर, धर्म, पुनर्जन्म और अन्य अनेक देवी देवताओं की कल्पना करके उनमे अपने सहज विश्वास और अडिग आस्था से मृत्यु भय पर विजय पाई और निर्भय विकास-पथ पर बढ़ता गया। परिणामस्वरूप जीवन और साहित्य में युगों तक ईश्वरीय प्रभायुक्त महान, अलौकिक और उदात्त नायकों का जन्म होता रहा। दूसरी (और प्रथम से अधिक भयानक) स्थिति आई—१९वीं—२०वीं शताब्दी में—जब विज्ञान ने परमाणु और जीवाणु अस्त्रों का आविष्कार करके सामूहिक मृत्यु द्वारा मनुष्य का बीज-वंश तक नाश करने की अनिवार्य सम्भावना को जन्म देकर व्यक्ति को नितांत अकेला, अजनबी, असहाय और सन्त्रस्त बना दिया और साथ ही बुद्धि और तर्क के तेज औजारों ने धर्म, आस्था और विश्वास को जड़ से उखाड़ फेंका। औद्योगीकरण और उसके फलस्वरूप मध्य वर्ग के उदय तथा संयुक्त-परिवार के विघटन ने जीवन की सहजता-सरलता को नष्ट करके उसे सश्लिष्ट और जटिल बना दिया। मनुष्य ने नवीन विश्वास बनाए परन्तु स्वय उन पर विश्वास नहीं कर सका। परिणाम स्वरूप अनास्था, अविश्वास, अनिर्णय और शंका ने मानव-चेतना को आक्रान्त कर लिया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, अजनबीपन प्रेम के अभाव का द्योतक है, संत्रास भविष्य की उज्जवलता के विषय मे निराशा का परिणाम है और अनास्था समाज के प्रतिष्ठित कहे जाने वाले लोगों के आचरणों के भोग-परायण होने का फल है।[२]

चिन्तन के धरातल पर डार्विन ने मनुष्य से उसकी श्रेष्ठता और महत्ता छीन ली, मार्क्स ने चिन्तन स्वातन्त्र्य और विकल्प का आधार छीनकर व्यक्ति को वर्ग

---

१. मनुष्य का भाग्य. लकाम्ते दनाय, पृ० ४९

२. दिनमान : १३ अगस्त, १९६७, पृ० ३२

मे बदल दिया और फ्रायड ने उसे अधिकांश उत्तरदायित्वो से मुक्त करके (क्योंकि वह उनको चेतन स्तर पर करता ही नहीं) अचेतन के ऐसे अंधकूप मे धकेला जहां काम के कीचड़ के अतिरिक्त कुछ भी न था। इनके अतिरिक्त, पृथ्वी को सृष्टि का केन्द्र एव स्वय को पृथ्वी का केन्द्र समझने वाले मानव के पिघलते पांवो को एक भयानक आघात खगोल-विज्ञान के विकास ने लगाया। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे हमारी पृथ्वी और उस पर मनुष्य की सत्ता और उसका अस्तित्व अत्यन्त नगण्य बनकर रह गए परन्तु प्रकृति और अन्य ग्रहो की विजयाकांक्षा तथा मानवीय-साहस ने एक ओर उसे आत्महत्या नही करने दी तो दूसरी ओर ईश्वर जैसी अदृश्य सत्ता को सिंहासनच्युत कर वहां मनुष्य को प्रतिष्ठित करके साहित्य मे आधुनिकता को जन्म दिया। ये सिद्धान्त (डार्विन, मार्क्स, फ्रायड) बाद मे चाहे कितने ही गलत और एकांगी क्यों न सिद्ध हो जाए, एक बार तो उन्होंने मानव आस्था और विश्वास को हिला ही दिया। डा० जगदीश गुप्त के शब्दो मे आज के मानव की स्थिति यह है कि एक ओर भौतिकता की जड़ उपासना मे उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता और अखण्ड अनाहत आनन्द की उसे अनुभूति नही हो पाती। अन्तर्जगत और बहिर्जगत के संघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धांतो के द्वन्द्व ने जीवन मे एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र मे आने वाली नयी कृतियां स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही है।'[1]

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि वास्तव मे कथा-नायक अपने-अपने समय के स्वीकृत समाज व्यापी प्रतिमानो के प्रतीक रहे है और ज्यो-ज्यो परम्परागत प्रतिमानो मे अनिश्चय, विघटन और ह्रास आता गया, त्यो त्यो कथा-नायक भी पंगु, क्लीव और पुंसत्वहीन होने गए।'[2] नाटक मे मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र और उससे भी आगे के विकास का इतिहास, चरित्र-सृष्टि मे नायक से चरित्र तक की यात्रा की दृष्टि से, काफी महत्वपूर्ण है। प्राचीन समय मे व्यक्ति और परिस्थिति अथवा नियति के संघर्ष ने मानव चरित्र के नाटकों को जन्म दिया (जैसा कि ग्रीक दुखान्त नाटकों मे मिलता है।) इस मूल संघर्ष के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के संघर्ष उभर कर सामने आए जैसे समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का संघर्ष, वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल मे परिवार और परिवार का और अन्तत परिवार मे व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष। इस प्रकार नाटक विकास करता गया और इसकी चरम-परिणति 'व्यक्ति चरित्र' के नाटक मे हुई। सच्चिदानन्द वात्स्यायन के अनुसार, मानव-चरित्र और व्यक्ति-

१. आलोचना. त्रैमासिक, वर्ष २, अंक ३, पृ० ५६

२ मानव मूल्य और साहित्य धर्मवीर भारती, पृ० ३८

चरित्र में यह अन्तर है कि मानव-चरित्र में मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जबकि व्यक्ति-चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक करके उसकी मानवता को परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, दूसरे में हम एक व्यक्ति-मानव को इतर मानव-व्यक्तियों से पृथक करके उसके व्यक्तित्व को मानव समाज के परि-प्रेक्ष्य में देखते हैं।[1] चरित्र का यह विकास डार्विन और मार्क्स के आविर्भाव और प्रचार के साथ साथ हुआ। नवीन वैज्ञानिक प्रगति और बदली हुई परिस्थितियों के साथ-साथ नाटककार की दृष्टि भी बदलती गई। उसके बाद फ्रायड की मनो-विश्लेषण पद्धति ने व्यक्ति मानस और व्यक्ति चेतना की गहनताओं पर नया और तीव्र-प्रकाश डाला। इससे नाटककार को एक नवीन दृष्टि और पैठ मिली जिसके सहारे वह व्यक्ति विशेष के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका।

मानव चरित्र से व्यक्ति-चरित्र तक आकर भी 'चरित्र' की तलाश रुक नहीं गई है। आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में यह प्रश्न भी अधिकाधिक महत्वपूर्ण होता गया है कि मानव-व्यक्ति का व्यष्टि-रूप में क्या स्थान है – वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर के संघर्ष के और नये आयाम हमारे सामने लाता है। संघर्ष की चरम परिणतियों के चित्रण में यह स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र भी आए, न केवल खण्डित व्यक्तित्वों के बल्कि ऐसी इकाईयों के भी जिनका अपने इकाई होने में विश्वास भी डगमगा गया हो। व्यक्तित्व की, अस्तित्व की, अपनेपन की, 'आइडेंटिटी' की खोज की पुकार इसी का मुखर रूप है।[2]

आज जब कि मनुष्य की आध्यात्मिक मृत्यु हो चुकी है और उसके आत्म-विश्वास, उसके देवत्व और उसकी महानता की रीढ़ टूट चुकी है, उसकी नसों में विस्फोट का इतना तीव्र आघात पहुंचा है, उसकी आत्मा कुचली गई है, उसके भीतर एक भयानक खोखलापन व्याप गया है, उसकी पसलियां इतनी कमज़ोर हो गई हैं और उसके मन पर इतना गहरा आघात लगा है कि युगयुगान्तर से दबे हुए उसके मनोविकार और पशु-प्रवृत्तियां उभर कर ऊपर आ गई हैं (हिप्पी, बीट आदि आन्दोलन इसके प्रमाण है) सभ्यता और संस्कृति का पूरा ढांचा चरमरा गया है और उसके सभी आदर्श बिल्कुल खोखले और बेमानी सिद्ध हुए हैं, परिणामस्वरूप साहित्य और विशेष कर नाटक से सर्वगुण सम्पन्न, ईश्वरीय अंशयुक्त, महान, उदात्त और धीर नायकों का स्थान मानवीय गुण-दोष-युक्त ऐसे 'चरित्रों ने ले लिया है जिनके मानसिक भूगोल में केवल पर्वत, चट्टानें, नदियां और समुद्र ही

१. हिन्दी साहित्य . एक आधुनिक परिदृश्य पृ० ८२

२. वही पृ० ८३

[illegible] में बदलकर [illegible] पर आ गए । आज का साहित्यकार मानता है कि केवल नायक ही नहीं नायक का प्रत्येक पात्र एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है । श्री जैनेन्द्र जैन भी स्वीकार करते हैं कि साहित्य की महानता आज केवल महापुरुषों और महान् भावनाओं के चित्रण तक ही सीमित नहीं है । आज किसी अत्यन्त साधारण जीवन की सरल कहानी और गाथा भी साहित्यिक महानता को जन्म दे सकती है । 'विशिष्ट को छोड़कर साधारण की यह प्रतिष्ठा, बल्कि साधारण में ही नवीन विशिष्टता की खोज, आज की साहित्यिक गतिविधि का सबसे बड़ा सूत्र है ।'[1] अकेले नायक का स्थान अब जैसे जीवन में बिखरे असंख्य धूल-धूसरित नर-नारियों ने ले लिया है ।

अकेले नायक की महानता के चित्रण से लेकर प्रत्येक पात्र के महत्त्व की स्वीकृति की यह यात्रा राजनैतिक और सामाजिक जीवन से होती हुई साहित्य में आई है । मानवीय सम्बन्ध मूलतः दो प्रकार के होते हैं —क्षैतिज तथा ऊर्ध्वाधर (Horizontal and Vertical Relationship) ।[2]

सामन्तवादी एवं नौकरशाही व्यवस्था ऊर्ध्वाधर सम्बन्धों को जन्म देती है और साम्यवादी अथवा प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था क्षैतिज सम्बन्धों को । एक भवन की विभिन्न ईंटें जिस प्रकार एक के ऊपर एक रखी रहती है उसी प्रकार ऊर्ध्वाधर सम्बन्धों में प्रत्येक व्यक्ति के पांवों के नीचे दूसरे का सिर और उसके सिर पर दूसरे के पांव होते हैं । इसमें अन्तिम सत्ता एवं महत्त्व (राजनीति में राजा का, परिवार में पिता का और साहित्य में नायक का) केवल सर्वोच्च व्यक्ति का, होता है । इसके विपरीत क्षैतिज सम्बन्ध एक ही खेत में उगे विभिन्न पौधों की तरह होते हैं जो अपने आप में पूर्ण, स्वतन्त्र और सार्थक है । इसमें एक पौधा दूसरे से बड़ा ऊंचा और अच्छा हो सकता है परन्तु अपने इन गुणों के लिए वह अन्य पौधों पर निर्भर नहीं करता । राजनीति, समाज और साहित्य का इतिहास वास्तव में ऊर्ध्वाधर सम्बन्धों के क्षैतिज सम्बन्धों में विकसित होने का इतिहास है और रियासतों

---

१ बदलते परिप्रेक्ष्य पृ० १६

2. Leadership Bureaucracy and Planning in India : P. K. B. Nayar : p 17-18,

का, व्यक्तियों का स्वयं परिवारों का विघटन इसी प्रक्रिया के परिणाम हैं। आधुनिक नाटक ने चरित्र के माध्यम से बदलते हुए इस समाज की टूटन और जटिल मनस्थिति को सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

इन समसामयिक आधुनिक नाटकों में चरित्र की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं —

आधुनिक विचारवान नाटककार '[illegible]' के सिद्धान्त को अनुचित मानते हैं, क्योंकि जीवन और मंच का यथार्थ इससे भिन्न है।

आधुनिक काव्य-नाटकों का केन्द्रीय-चरित्र बाह्य परिस्थितियों और आन्तरिक प्रवृत्तियों के बीच घिरा हुआ जब स्वयं को पाता है या समझने लगता है, तब उसकी दयनीयता अत्यन्त तीव्र हो जाती है। आज के इन चरित्रों को प्राचीन-काल के त्रासदी-नाटकों से भी अधिक असहाय और लाचार तथा दयनीय जीवन बिताना पड़ता है, क्योंकि इनके पास धर्म, ईश्वर अथवा नियति के नाम पर सान्त्वना लेने का भी कोई साधन नहीं है।

समय के साथ आज 'संघर्ष' और 'घटना' की परिकल्पना और इनके विधान का रूप भी बिल्कुल बदल गया है। बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष — मानव और नियति का संघर्ष अब उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है, क्योंकि व्यक्ति मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और यह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा क्योंकि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया। इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वाहित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती और रह सकती है।[1]

आज के पात्रों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी साधारणता (मानवीयता) होती है। पात्र चाहे पौराणिक-ऐतिहासिक हो चाहे समसामयिक, उसका मनुष्य और—साधारण मनुष्य होना पहली शर्त है। आज का मानव यह स्वीकार करने लगा है कि मानवीय धरातल पर भी नहीं, मानवीय धरातल पर ही रहकर जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है। ऊर्ध्वाधर के स्थान पर क्षैतिज सम्बन्धों की स्वीकृति के कारण आज के नाटकों में नायक का स्थान चरित्र ने ले लिया है और क्योंकि अभी मानवता इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के बीच पिस रही है इसलिए आज के चरित्रों के पारस्परिक सम्बन्ध भी अस्पष्ट, अनिर्धारित, जटिल और संश्लिष्ट हो गए हैं।

आज के चरित्र सामान्यतः नायक, नायिका, दुष्ट, विदूषक जैसे वर्गों में विभाजित नहीं किए जा सकते।

नारी का स्थान आज के नाटक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आकर्षक हो गया

१. हिन्दी साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य. सच्चिदानन्द वात्स्यायनः पृ० ८३

नक्षत्रों की स्थिति में महादेवी वर्मा ने लिखा है—आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अन्तरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस समस्या का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदन का एक (देश छोर) युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है।[1] इस समस्या के समाधान के बिना निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व-मानस को उद्वेलित करने वाले आविष्कारों और सिद्धान्तों का साहित्यिक-प्रभाव हिन्दी नाटकों में सन १९६० के आस-पास ही क्यों दिखाई देता है? भारतीय सन्दर्भ में देखने पर ज्ञात होता है कि १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत ही नहीं सारे दुनिया में एक सर्वव्यापी जागरण के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे जिनका प्रभाव (उस समय तो यह अनुकरण-मात्र था, 'प्रभाव' पश्च जाने के बाद बना) साहित्य के क्षेत्र में पड़ रहा था और नये सन्दर्भ में, नए धरातल पर एक बौद्धिक विक्षोभ अपने को अभिव्यक्त करने लगा था। सुधारवाद का आन्दोलन भारत में चल पड़ा था। मूलत: उस आन्दोलन का स्वर यह था कि हम पिछड़ गए हैं, अपने को सुधारेंगे नहीं तो नष्ट हो जायेंगे। इसकी दो विरोधी प्रतिक्रियाएं हम पर होती थीं—एक ओर हम सभी पाश्चात्य प्रभावों को घृणा, अविश्वास और आशंका की दृष्टि से देखते थे और दूसरी ओर हम प्रयत्न करते थे कि हमारे यहां भी वही भौतिक समृद्धि हो, यान्त्रिक उन्नति हो।[2] अतः हास्य और व्यंग द्वारा अपनी बुराइयों और दोषों का उद्घाटन भी करते थे। दूसरे स्तर पर हम यह भी सिद्ध करने में लगे हुए थे कि हम भौतिक उन्नति में पिछड़ गए हैं तो क्या, आध्यात्मिक क्षेत्र

१. सप्तपर्णा महादेवी वर्मा, पृ० १४

२. वे (भारतेन्दु) काल-द्रष्टा थे। भारत के अतीत के प्रति उन्हें असीम श्रद्धा थी ही किन्तु साथ ही वे यह भी अच्छी तरह समझते थे कि यद्यपि अंग्रेजों ने भारत की स्वाधीनता का अपहरण और आर्थिक शोषण किया है तो भी भविष्य में उन्नति करने और जीवन में सुधार उपस्थित करने के लिए भारतवासियों को अंग्रेजों से बहुत-सी बातें सीखनी है—विशेषत: ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में।

हिन्दी साहित्य कोश (भाग–२), पृ० ३८२-८३

में हमारा कोई मुकाबला नहीं है हम जगद्गुरु हैं, अब भी संसार का उद्धार हमारी संस्कृति और सभ्यता से ही होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मण्डल के अन्य साहित्यकारों के नाटक इसका प्रमाण हैं। एक ओर ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्रों की गौरव-गाथा और दूसरी ओर तत्कालीन समाज के कटु यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले प्रहसनों का यही मूल कारण है।

इन्हीं परिस्थियों से गुजर कर धीरे-धीरे हमने आधुनिक युग की वास्तविकताओं को पहचाना और उनके सही ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझा। उस समय अपनी परम्परा के प्रति हममें जो असाधारण आग्रह जाग उठा था, वह इसलिए था कि अतीत का चिन्तन कर हम वर्तमान की क्षतिपूर्ति करते थे।[1] जयशंकर प्रसाद और उनकी परम्परा के समस्त नाटक इसी प्रतिक्रिया के प्रमाण हैं जिनमें भारतीय अतीत के गौरवपूर्ण प्रसंगों को नाटकों की कथा-वस्तु और इतिहास के महान् नायकों को नाटकों का केन्द्रीय-पात्र बनाया गया है। स्वतंत्रता-काल में हम संघर्ष की जल्दबाजी में जनता के सहज यथार्थ बोध को विकसित न कर नायक-पूजा में लग गए थे। उस समय एक सरल समाधान के रूप में नायक-पूजा को स्वीकार करना पड़ा। साधारण जन में अगर अपना कुछ नहीं है तो कम से कम नायक के असाधारण गुणों में ही वह गौरव कर सके, आत्म विश्वास नहीं है तो कम से कम नायक में ही विश्वास कर सके, इसकी एक तात्कालिक उपयोगिता थी और इस उपयोगिता के कारण ही उस समय गौतम बुद्ध, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे महान् नायकों की सृष्टि हुई। डा० धर्मवीर भारती के अनुसार इसका परिणाम यह हुआ कि सामान्य जन की तो बात दूर—बुद्धिजीवी वर्ग भी इस नायक की छत्रछाया में अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाया और केवल नायक के एक आरोपित महान् व्यक्तित्व को लबादे की तरह ओढ कर बैठ गया। उसने न मूल्यों की खोज की न अपने को खतरे में डाला। न कठोर यथार्थ से टकराया, न अपने को सामान्य जन माना। 'आज युग बदल गया है, हमें यह सब आडम्बर और साहसहीनता लगती है, रीढ और धुरी का अभाव लगता है। ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ सत्ता का युग आया त्यों ही यह ऊपरी सभ्यता और प्रभामण्डल निस्तेज पड़ने लगा। अन्तर्विरोध, असंगति, अविवेक, आन्तरिक-रिक्तता और विघटन को ऊपर से ढक लेने वाला यह नैतिक प्रभामण्डल जब क्षीण पड़ा तभी यह अन्तर्द्वन्द और संकट की स्थिति आई। प्रभामण्डल के बुझते ही जितने काच के टुकड़े उसकी रोशनी में हीरे बन कर चमक रहे थे सब मलिन और निस्तेज पड़ गए। साहित्य में भी वे बड़े-बड़े शब्द, वे भव्य चेहरे, वे दिव्यता के लबादे, शार्ट-कट समाधान, वे आरोपित व्यक्तित्व सहसा अपनी कटु वास्तविकता के सामने खुल गए।'[2]

१. मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती, पृ० ५८

२ मानव मूल्य और साहित्य पृ० ८७-८८

विश्व-चेतना के विकास के इतिहास को भारत पर ज्यों का त्यों लागू करने वाले प्राय. यह भूल जाते है कि मध्यकाल मे भारतीय समाज संगठन की प्रकृति बिलकुल वैसी नही रही है जैसी मध्यकालीन यूरोप की थी ।[1]

यूरोप के विपरीत भारत मे *ग्राम-संगठनों (और पारिवारिक सुरक्षा)*, गृहोद्योगों एव कुटीर-उद्योगों की एक अद्वितीय परम्परा थी । इसके अतिरिक्त मानवीय-गौरव, स्वातन्त्र्य, समानता, स्वाधीन-चिन्तन, लोक कल्याण, कर्मठता के तत्व हमारी परम्परा (यह अलग बात है कि यहा सदैव सिद्धात और आचरण के बीच एक दरार बनी रही) के महत्वपूर्ण तत्व रहे है । अत एक ओर नई चकाचौंध का आकर्षण और दूसरी ओर समृद्ध प्राचीन संस्कृति-सभ्यता के मोह मे दबी हुई गहरी जडे—परिणाम यह हुआ कि यूरोप की अपेक्षा भारत की विकास गति धीमी रही और यहा आधुनिकता का आगमन बहुत बाद मे हुआ । आज भी हमारे यहां यांत्रिक-युग की वह निरंकुश अमानवीयता नही है, उद्योगों का केन्द्रीकरण उस सीमा तक नही हुआ, भीड-संस्कृति अभी वैसी सर्वव्यापक नही बनी है जैसे यूरोप मे । साथ ही साथ पिछले शोषण, पराजय और अवमानना ने हमको गहरी वेदनाएं दी हैं, उसने कुछ ऐसे संस्कार भी दिए हैं जो महत्त्वपूर्ण है । फिर भी विश्व की बदलती परिस्थितियों के साथ-साथ भारतीय साहित्य के मूल्यों और उद्देश्य का भी बदलना जाना स्वाभाविक ही था । प्राचीन और नवीन साहित्य के उद्देश्य का मूल अन्तर स्पष्ट करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने ठीक ही कहा है कि आज इस बदलती हुई यथार्थ चेतना के संदर्भ मे साहित्य या किसी भी सृजनात्मक कार्य का उद्देश्य, परिणति या मूल्य आनन्द मान सकना सम्भव नही रहा । आनन्द की परिकल्पना मे एक प्रकार की समाधिस्थता और निर्विकार चिन्तन की स्थिति निहित है । इसके लिए जीवन और समाज का कहीं अधिक संघर्षहीन, स्थिर तथा संतुलित होना आवश्यक है । आनन्द का सिद्धात ऐसे ही समाज की उपज भी है और इसलिए प्राचीन साहित्य मे अन्त मे सभी विरोधी तत्वों और भावों का समीकरण और संतुलित हो जाना आवश्यक माना जाता था, पर आज का साहित्य मूलत विक्षोभ उत्पन्न करता है, बेचैन करता है, हर प्रकार की जडता और समाधिस्थता को तोडता है । ··· नवलेखन वास्तव मे वही है जो पाठक को विक्षुब्ध कर दे, उसकी चेतन अचेतन समाधिस्थता को तोडकर उसकी ग्रहणशीलता को व्यापक और सघन बनाए ।[2]

संक्षेप मे, भारतीय-मानस को एक ओर यदि विश्व के नवीन विचारों और सिद्धातों ने प्रभावित किया है तो दूसरी ओर भारत की स्वतन्त्रता के बाद होने वाले विभाजन, मोहभंग, यांत्रिकता, विसंगतियों, परिवारों के विघटन, राजनीतिक भ्रष्टाचार और व्यापक असतोष ने भी उद्वेलित किया है ।

१ देखिए—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य डा० रघुवंश पृ० ११४-११५

२. बदलते परिप्रेक्ष्य पृ० ४८

आज के जीवन मे महान नायकों की पुंसत्वहीनता देखकर आज साधारण भारतीय जन आगे आया है और उसने ललकार कर कहा है—

'नायक चले गये तो जाने दो, मैं हूं जो इस संकट को अपने सीने पर लूंगा।'[1] और समसामयिक हिन्दी नाटकों मे परम्परागत नायक का स्थान यथार्थ जीवन की त्रासदी को नंगी छाती पर झेलने वाले चरित्रों ने ले लिया है। प्रमाण है 'कलंकी सूर्यमुख, मि० अभिमन्यु, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे, हत्या एक आकार की आदि समसामयिक नाटको के पात्र।

हमारे नाट्य जगत् मे समसामयिकता और आधुनिकता का आन्दोलन स्वातंत्र्योत्तर युग की देन है। परन्तु भारतीय और विशेषकर हिन्दी नाटक मे चरित्र-सृष्टि के धरातल से आधुनिकता और समसामयिकता का आगमन, अन्य साहित्य-विधाओं की अपेक्षा, और भी देर से हुआ। तात्विक दृष्टि से आधुनिकता और समसामयिकता उस बिन्दु से आरम्भ हो जाती है जहां से मनुष्य को मनुष्य के ही स्तर से देखकर, तथा उसे उसके काल और उसकी परिस्थितियों मे रखकर किसी मूलभूत अथवा शाश्वत् प्रश्न से साक्षात्कार कर उसे मानव की मानसिक प्रक्रिया के धरातल से विश्लेषित किया जाता है। मनुष्य की मनुष्य के रूप मे पहचान और नवीन मानव सम्बन्धों का अन्वेषण आधुनिकता की मूलभूत शर्त है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों मे (सन्) साठ के बाद उन कुछ लम्बी कविताओं नाटकों के अतिरिक्त उन निबन्धों तथा आलोचनाओं से उस शक्तिशाली अध्ययन का क्रम फिर आरम्भ हुआ है, जहा यथार्थ को उसके सम्पूर्ण रूप मे सामना करने का मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण इयत्ता मे बिना किसी भावुकता या सामान्यीकरण की निरर्थकता मे देख सकने का सकल्प है।[2] नाटक एक ऐसी विधा है जो साहित्य और कला दोनों एक साथ है। और मानव शरीर की भांति यह भी विभिन्न अवयवों के गेस्टाल्ट से बनी एक स्वतपूर्ण और सप्रमाण इकाई है। यह अपने आप में तब तक अधूरा है जब तक इसे मंच पर दृश्य रूप मे प्रस्तुत न किया जाये। सामान्यतः सम्पूर्ण साहित्य मे आधुनिक भावबोध केवल उसी साहित्य मे हो सकता है जो समकालीन परिवेश में जुड़ा हो। रघुवीर सहाय के अनुसार आधुनिकता की व्याख्या समकालीनता से बहुत भिन्न नहीं।[3] नाटक मे तो विशेष रूप से आधुनिकता अपने समसामयिक रंगमंच से सापेक्षिक रूप मे जुड़ी होती है और इस, जुड़े होने का बोध हिन्दी नाटक मे विवेच्यकालावधि के आस पास ही मिलना शुरू होता है। उससे पूर्व नाटक का मचन उसकी एक अनिश्चित विशेषता थी और अब इसे नाटक की एक अनिवार्य शर्त माना गया। चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से यह बोध—कि नाट्या-लेख मे प्रस्तुत पात्र

१. मानव मूल्य और साहित्य: धर्मवीर भारती : पृ० ६२

२. कैक्टस की क्यारी मे मुर्दे की नोक-भर जमीन।
(ज्ञानोदय, मई, १९६६, पृ० ३०)

३. माध्यम : मई, ६६, पृ० ७३

नाटककार द्वारा कल्पित केवल एक रेखाचित्र है जिसे मंच पर अभिनेता और निर्देशक को अपनी सूझबूझ एवं प्रतिभा से रंग भर कर एक जीवन्त चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना है, यही कलाकार की देन है। हिन्दी नाटक के विकास की एक बहुत बड़ी बाधा यह भी रही है कि मानव जीवन की जटिल और सूक्ष्म परिस्थितियों तथा अनुभूत-अर्द्ध-अनुभूत भावों की नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए जैसी सशक्त भाषा चाहिए, वैसी विकसित भाषा हमारे पास नहीं थी और हमारा नाटककार इस दिशा में सचेत भी नहीं था। इसके साथ-साथ समृद्ध और विकसित हिन्दी रंगमंच का अभाव भी इस जड़ता का एक प्रमुख कारण रहा।

यद्यपि सन् १९५१ में कोणार्क और १९५४ में अंधायुग का प्रकाशन हुआ था परन्तु ये दोनों प्रयोग अत्यन्त सशक्त होते हुए भी किसी परम्परा को जन्म नहीं दे सके। कोणार्क को प्रकाशन से प्रदर्शन तक आने में काफी समय लगा और अंधायुग का मंचन भी प्रकाशन से सात-आठ वर्ष बाद ही हो सका, प्रभाव तो और भी बाद में पड़ा। इसके अतिरिक्त, छठी दशाब्दी का अन्त और सातवीं दशाब्दी का आरम्भ देशभर में नाट्य आन्दोलन के विभिन्न दिशाओं में (गति चाहे कुछ भी रही हो) अग्रसर और आत्म-सजग होने का काल है। १९५८ में रंगमंच और नाट्य-कला के सर्वथा अव्यावसायिक और अराजनीतिक संस्थान (नाट्य केन्द्र) स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट की संस्थापना हुई, जिसने अपने कलात्मक प्रदर्शनों द्वारा हिन्दी रंगमंच-निर्माण और नाटक के विकास में सक्रिय योग दिया। १९५८ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा नाटक और नाट्य-प्रदर्शन को पुरस्कृत करने की योजना से भी हिन्दी नाटक और रंगमंच को अधिक ऊंचे, सार्थक और महत्वपूर्ण स्तर प्राप्त करने में सहायता मिली। १९५९ में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना और उसमें नाट्य-प्रदर्शनों में हिन्दी की स्वीकृति, देशभर के राज्य-केन्द्रों में रवीन्द्र-भवन (रंगशाला) निर्माण की योजना नाटक और रंगमंच पर भारतीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सेमिनार, परिचर्चा और अंग्रेजी-हिन्दी सभी पत्रों में इस विषय पर बड़े-बड़े लेख और परिसंवादों ने साठोत्तर हिन्दी नाटक को नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न जटिल और संश्लिष्ट संवेदनाओं को कलात्मक और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के अत्यधिक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने में पर्याप्त योगदान दिया।

निःसन्देह नाटक एक जैविक और प्राणवान इकाई है और उसके किसी भी अंग या तत्व का अध्ययन निरपेक्ष रूप से करना न केवल असगत है अपितु दुसाध्य भी है। परन्तु विशेषीकरण और विश्लेषण के लिए यह एक अनिवार्यता है, इसे भी शायद नकारा नहीं जा सकता। शास्त्र चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य, बिना पात्रों के नाटक की कल्पना नहीं कर सकता, नहीं करता। वस्तुतः चरित्र की रीढ़ पर ही नाटक खड़ा होता है, बनता है। महान नाटककार चेखव ने एक बार अपने घनिष्ठ मित्र सुवोरिन को लिखा था—'मेरे दिमाग में ऐसे लोगों के चरित्रों की पूरी

पात्र भी हैं जो दिन रात अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करते रहते हैं कि मैं एक शब्द गढ़ूं और वे निकल पड़ें।[1] नाट्य साहित्य के इतिहास में पात्रों की चरित्र-गरिमा ही अब तक संसारी अभिनेताओं को चुनौती देती रही है और सहृदयों को औदात्य-बोध कराती रही है। युगीन और सही पात्रों की तलाश तथा चरित्र-सृष्टि की समस्या ने नाटककारों को केवल चिन्तन के स्तर पर ही नहीं रचनात्मक स्तर भी उद्वेलित किया है।[2] अपने समाज में से, अपने दर्शकों में से सही चरित्रों का चयन आज के नाटकों का मूल प्रश्न है और प्रस्तुत लघु-प्रबन्ध में नाटकों के इन्हीं चरित्रों से साक्षात्कार का प्रयास किया गया है।

---

१. चेखव के तीन नाटक . अनु० राजेन्द्र यादव, पृ० 'च'

२. (क) ' Sixcharacters in search of an Author 'Luigi Pirandello,

(ख) 'सुनो जनमेजय' : 'कभी चित कभी पट'
—आद्य रंगाचार्य

(ग) 'एवं इन्द्रजित' : बादल सरकार

(घ) त्रिशंकु : बृजमोहन शाह

प्रथम अध्याय

नाटक और चरित्र-सृष्टि : शास्त्रगत अध्ययन

वास्तव में यदि हम साहित्य के इन पात्रों को देखें जो हमारे मस्तिष्क में हैं, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उन में से आधे नाटक के पात्र हैं ।

—नाटक साहित्य का अध्ययन : ब्रैंडर मैथ्यूज पृ० ८२

साहित्य में नाटक और नाटक में चरित्र-सृष्टि का विशेष महत्व है । कथा-साहित्य में तो कथा-विस्तार, वर्णन-सौष्ठव और विवेचन-विश्लेषण से भी काम चलाया जा सकता है परन्तु नाटक का तो सम्पूर्ण कार्य-व्यापार ही पात्र और उनके अभिनय के माध्यम से सम्पन्न होता है । नाटककार का यह कथन कि 'मुझ से नाटक के पात्र ही नाटक लिखाते हैं'[1] नाट्य सृष्टि के इस मूल बिन्दु की ओर संकेत करता है ।

यद्यपि हिन्दी नाटक का आरम्भ और उसका नवोत्थान संस्कृत के ही ढंग पर हुआ, तथापि संस्कृत नाटक से उसका कोई अटूट परम्परागत सम्बन्ध प्रमाणित नहीं किया जा सकता । नवोत्थान के बाद हिन्दी नाटक से संस्कृत का रंग धुलता गया और पाश्चात्य रंग-प्रभाव गहरा होता गया । परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रथम दशक के अन्त तक आते-आते हिन्दी नाटककार यह गहराई से अनुभव करने लगा कि हर देश, काल और युग का रंगमंच तथा उसका नाट्य-लेखन उसकी अपनी परिस्थितियों और उसकी अपनी सामर्थ्य (रिसोर्सेज) के अनुसार ही विकसित होगा, और हुआ है । इस विकास का सीधा सम्बन्ध उस देश, युग और काल की अपनी आन्तरिक शक्ति से है । पश्चिम की उपलब्धियां हमारे सामने हैं, हम उनसे सहज रंग-शिल्प के स्तर से मदद ले सकते हैं, पर हम उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों से अपनी उपलब्धि नहीं पा सकते ।[2] परिणामस्वरूप, भारतीय और पाश्चात्य रंग-दृष्टियों के समन्वय से हिन्दी रंग-दृष्टि और चरित्र परिकल्पना की खोज आरम्भ की गई ।

---

१. सुनो जनमेजय : आद्य रंगाचार्य (पीठिका)

२. राजरानी : आधुनिक रंगमंच डा० लक्ष्मीनारायण लाल पृ० १८

[illegible] है—[illegible] किया हुआ । [illegible] उसमें कवि की बुद्धि से कल्पित [illegible] । नायक के चार भेद—धीरोदात्त, धीर ललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत बताए गए हैं । शृंगार की दृष्टि से नायक के प्रकारों का दूसरा वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है और इस प्रकार यह संख्या अड़तालीस तक पहुंची है ।[1] नायक के अतिरिक्त शास्त्रीय नाट्य-शास्त्रों में प्रतिनायक, पीठ-मर्द, विदूषक, विट, दूत, चेट, सूत, किरात, कंचुकी आदि गौण-पात्रों के लक्षण और उनके भेदोपभेदों का विस्तृत निरूपण किया गया है ।[2]

नायिका में भी प्रायः उन्हीं गुणों का होना आवश्यक है जिनका उल्लेख नायक के संदर्भ में किया गया है । नायिका के भेदों का मुख्य आधार उसका नायक के साथ सम्बन्ध है । नायिका भेद का निरूपण करते समय पहले स्वकीया परकीया और गणिका के कुल १६ प्रकार बताए गए और फिर प्रत्येक की आठ अवस्थाएं (स्वाधीनपतिका आदि) बताई गई । इस प्रकार कुल मिलाकर हुए १२८ भेद, इन भेदों को पुनः उत्तम, मध्यम और अधम के वर्गीकरण से नायिका-भेद की संख्या ३८४ तक पहुँचा दी गई ।[3] नायिका के अतिरिक्त अनुचारिका, परिचारिका, गणिका, नर्तकी, दूती प्रतिहारी आदि का भी विशद् और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार संस्कृत नाटक में नाटकीय भावाभिव्यक्ति की ये पांच शैलियां हैं —प्रकाशम्, स्वगतम्, अपवारितम्, जनान्तिकम् और आकाशोक्ति ।[4]

इसके अतिरिक्त कौन सा पात्र कौन-सी भाषा का प्रयोग करेगा तथा उसके वाल, वस्त्र, वाणी, वेश, चेष्टादि कैसे होंगे, इसका नियत उत्तर भी हमारे शास्त्र के पास है । विभिन्न पात्रों के सम्बोधन- शिष्टाचार एवं पात्रों के नामकरण भी किसी सीमा तक (और यह सीमा दुर्भाग्य से बहुत दूर तक गई है) शास्त्र द्वारा विनयमित है ।

नायक-नायिका के परस्पर व्यवहार का सूत्र भी शास्त्रकार ने अपने हाथों में रखा है और 'दूति' के भेदोपभेदों की गिनती भी अठारह तक पहुंचा दी है । नायक के चित्रण का ढांचा भी इतना अधिक कसा-बंधा है कि रचना के दौरान नायक का चरित्र-परिवर्तन निंदनीय कर्म कहा गया है ।

शास्त्र का यह कठोर बन्धन ही वह मूल कारण है जिसकी वजह से संस्कृत

---

१. साहित्य दर्पण : विमला टीका, पृ० ६५-६७
२. वही पृ० ७१
३ वही पृ० ८२
४. हिन्दी नाट्य-दर्पण : पृ ३३-३४

नाटककारो ने व्यक्तित्व-विशिष्ट पात्रो के सृजन करने और उन्हे उनकी भाषा देने का गभीर प्रयत्न नही किया । जहा तक चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, गुण की दृष्टि से विभिन्न पात्रो मे बहुत अन्तर है, किन्तु सुन्दरतम नाटक भी प्रकारो का चित्रण करते है, व्यक्तियो का नही । डा० कीथ के अनुसार, नाटक रचना मे मौलिक उद-भावना का अभाव इस बात का पक्का प्रमाण है कि शास्त्र ने नाटककारों को अभिभूत कर दिया था ।[1] और शास्त्रीय विवेचन के स्तर पर भी चरित्र के धरातल से सस्कृत तो क्या भारतेन्दु-पूर्व युग तक भी न तो कोई विशेष चिन्ता व्यक्त की गई और न ही कोई मौलिक चिन्तन हुआ । 'भारतेन्दु से प्रसाद तक वह (नाटककार) परम्परा की तलाश मे था । इसके बाद उसकी यह भी तलाश खत्म हो गई और वह प्रसाद अथवा इब्सन-चेखव के बाहरी प्रभाव मे आकर लिखने लगा ।'[2] स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस दिशा मे नाटककार, निर्देशक, अभिनेता और नाट्य-समीक्षक के सम्मिलित प्रयास और चिन्तन से नवजागरण तथा विकास के महत्वपूर्ण संकेत मिलने लगे और समसामयिक नाटककार तथा समीक्षक नाट्य-चिन्तन के प्रति काफी सचेत है ।

पाश्चात्य :

यूरोप मे नाटक और उसकी चरित्र-सृष्टि को लेकर गम्भीर चिन्तन हुआ है । प्लेटो के लेखो और एरिस्टोफेनिस की कृतियो मे नाटक के स्वरूप और प्रभाव विवेचन के अन्तर्गत प्रसंगवश पात्रो पर भी अनेक विचार व्यक्त किए गए हैं । ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण और गम्भीर हैं किन्तु क्रमबद्ध रीति से किसी निश्चित सिद्धात का प्रतिपादन नही करते । नियमित और व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप से अपनी स्थापनाओ का उल्लेख करने वाले सर्वप्रथम यूनानी आचार्य अरस्तू थे, जिनके काव्य-शास्त्र के बहुत बडे भाग मे नाट्य- सिद्धान्त और 'चरित्र' पर प्रकाश डाला गया है ।

अरस्तू के अनुसार चरित्र-चित्रण का मूल आधार है पात्रो का चारित्र्य और 'चारित्र्य वह है जिसके बलपर हम अभिकर्ताओ मे कुछ गुणो का आरोप करते हैं ।'[3] इसका अर्थ बोसांके जैसे तत्ववेत्ताओं ने 'केवल वर्गगत और सामान्य' लगाया है जब कि प्रो० बुचर और डा० नगेन्द्र के अनुसार इसमे 'विशिष्ट व्यक्तित्व' का समावेश भी अवश्य है ।[4]

अरस्तू ने 'चरित्र' के सन्दर्भ मे छह आधारभूत सिद्धान्तो का उल्लेख किया है । इसके अनुसार नाटक के नायक के लिए 'पहली और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है

१. संस्कृत नाटक . अनु० उदयभानु सिंह पृ० ३७८ :
२. नटरंग . वर्ष-२-अंक-७ : डा० लाल, पृ० ५
३. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : अनु० डा० नगेन्द्र; पृ० ३९-४०
४. वही, (भूमिका) : पृ० १०६

स्थापना नहीं करते। तथापि उसके गुण की विशिष्टता के अनुसार वे उन्हें 'शुभ चरित्र वाले या बुरे' कहने की छूट है। अरस्तू तो वे ही नैतिक गुण ही मानते हैं। इस विषय में 'गुणों का उल्लेख करने की है औचित्य" अर्थात् किसी पात्र के चरित्र-चित्रण में उसकी प्रकृति, जाति या वर्तमान विशेषताओं का ध्यान रखना चाहिए। डा० नगेन्द्र के अनुसार 'जातिगत विशेषताओं का महत्व स्वीकार करते हुए भी वे व्यक्ति की विशिष्टता का निषेध नहीं करना चाहते थे।" अरस्तू के अनुसार तीसरी अनिवार्य विशेषता यह है कि चरित्र जीवन के अनुरूप होना चाहिए। स्पष्टतः इसका तात्पर्य यह है कि नाटक के पात्र जीवन अर्थात् जगत के जीते-जागते, चलते-फिरते नर-नारी होने चाहिए काल्पनिक पुतले नहीं। चौथी बात यह है कि 'चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए।' इस पर डा० नगेन्द्र की टिप्पणी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, वे कहते हैं कि "चरित्र-चित्रण में एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है, चरित्र में नहीं—चरित्र में अस्थिरता हो सकती है और प्रायः होती है, परन्तु फिर यह अस्थिरता ही उसका स्थायी धर्म हो जाती है और इसका यथावत निर्वाह होना चाहिए।" अरस्तू चरित्र-परिवर्तन की सम्भावना का निषेध नहीं करते परन्तु उसे 'मूल प्रकृति' की परिधि के भीतर ही ग्रहण करते हैं। बड़े से बड़ा परिवर्तन मनुष्य के चरित्र में सम्भव है, किन्तु उसे ग्राह्य बनाने के लिए पात्र की प्रकृति में ऐसा कुछ संस्कार या परिवर्तनशीलता का धर्म अवश्य वर्तमान रहना चाहिए। पांचवी बात यह है कि चरित्र-चित्रण में नाटककार को 'अवश्यम्भावी या सम्भाव्य' को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।" अर्थात् अरस्तू के लिए चरित्र का अर्थ केवल वर्गगत नैतिक गुण-दोष ही नहीं है उन्होंने इस 'सम्भावना-नियम' के अनुसार निश्चित रूप से व्यक्ति-वैशिष्ट्य की स्वीकृति दी है। अन्तिम और अत्यन्त आवश्यक तथ्य यह है कि नाटक के चरित्र-चित्रण में यथार्थ और आदर्श का कलात्मक समन्वय होना चाहिए अर्थात् सामान्यतः चरित्र का अंकन यथार्थवत् करके भी कलाकार को अपनी कल्पना और भावना से उसे ऐसे आकर्षण और सौन्दर्य से मण्डित कर देना चाहिए कि वह एक कलाकृति बन जाए।

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ३९-४०

२ वही, पृ०११०

३. वही, पृ० ११०

४. वही, पृ०४१

इसके अतिरिक्त अरस्तू मानते हैं कि त्रासदी का नायक अत्यन्त विख्यात, समृद्ध वैभवशाली, यशस्वी और कुलीन पुरुष हो। लेकिन चित्रण की दृष्टि से वह 'हम जैसा' ही होना चाहिए। 'हम जैसा' का अर्थ है— महज भावनाओं से युक्त, यह साम्य प्रकृति का ही है, मात्रा का नहीं। उसके चरित्र में सत् के साथ असत् का भी कुछ अंश होना चाहिए। वह मूलतः सज्जन होने पर भी सर्वथा निर्दोष नहीं ह ना चाहिए।

मध्ययुग के प्रसिद्ध रोमन साहित्य- शास्त्री होरेस का भी सबसे अधिक आग्रह चरित्र चित्रण के औचित्य पर ही है। वे कहते हैं कि 'या तो तुम परम्परा-पालन में दृढ़ रहो या इसका ध्यान रखो कि तुम्हारे आविष्कारों में संगति हो।'[1] पात्र-कल्पना —वय, परिस्थिति, व्यवसाय इत्यादि के अनुकूल होनी चाहिए। मध्य युग के डोनेटस, डायोमिडीज्, जान आफ ऐलिसवरी, डान्टे आदि विचारकों पर होरेस की स्पष्ट छाप है। नव-जागरण के युग में आद्योपान्त अरस्तू का प्रभाव सबल और प्रशस्त बना रहा। पुनर्जागरण काल में बेन जान्सन के विचार उल्लेखनीय हैं। अपने युग में उन्होंने अरस्तू और होरेस द्वारा प्रतिपादित नियमों की ही पुनः उद्घोषणा की। सत्रहवीं शती के नवीन-क्लासिकीय युग में कार्नील, मोलियर, रासीन, बोआलो प्रभृति लेखकों ने अरस्तू और होरेस की अधिकांश बातें दुहराकर भी अनेक विषयों में अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया। उन्नीसवीं शती के नवीन-चरित्रों की आधार शिला प्रस्तुत करने वाले सत्रहवीं शती के प्रसिद्ध कामदी-नाटककार मोलियर का यह कथन महत्वपूर्ण है, जो उन्होंने अपने नाटक 'स्कूल फार वाइव्ज क्रिटिसाइज्ड' के पात्र डोरेन्टीज के मुख से कहलवाया है :

'...हम मनुष्य के छोटे-छोटे कार्यों में हास्य का तत्व देखें और मानव की दुर्बलताओं को स्टेज पर इस प्रकार प्रदर्शित करें कि दर्शक को क्रोध न आकर हंसी आए। जब ट्रेजिक नाटककार एक महान नायक की रचना करता है तो वह उसका चित्र अपनी कल्पना के सहारे बनाता है, किन्तु कामिक नाटककार को अपने निकट समाज में रहने वाले व्यक्तियों का ही चित्र उतारना पड़ता है ।'[2] नाटक के महान त्रासदी नायकों के स्थान पर सामान्य जीवन के साधारण चरित्रों को स्थापित करना अपने आप में काफी बड़ा परिवर्तन और चरित्रों की दृष्टि से आगे के युग के लिए एक निश्चित भूमिका प्रस्तुत करना था।

आधुनिक नाटक और उसकी चरित्र सृष्टि को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ देने का श्रेय इब्सन, चेखव और बर्नार्ड शा को मिलता है। समस्या-नाटक के जन्मदाता इब्सन ने नाटक में पात्र और कार्य पर अत्यधिक बल दिया। इब्सन ने यह बताया कि यदि नाटक अपनी आतंरिक शक्ति पर जीवित रहना चाहता है तो उसे मनुष्य

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : संपा० डा० सावित्री सिन्हा, पृ०६४
२. भारतीय नाट्य साहित्य : संपा० डा० नगेन्द्र, पृ० १४८ से उद्धृत

की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना चाहिए और उन बातों का चित्रण करना चाहिए जो जनसाधारण के निकट हैं। इस विचार का प्रभाव यह पड़ा कि नाटककार निम्न वर्ग के लोगों का चित्रण करने लगे। नायक का स्थान केन्द्रीय-चरित्र ने ले लिया और गौण-पात्रों को भी व्यक्तित्व प्रदान किया गया। बर्नार्ड शा ने कहा— कथानक की रचना से मुझे घृणा है, मैं तो कुछेक पात्रों की सृष्टि करता हूं। शा ने अपने चरित्रों के माध्यम से आधुनिक युग के नर-नारी सम्बन्धों के नये रूप और नवीन आधार बनाए तथा उन्हें आज के बहुमुखी एवं पेचीदा जीवन का प्रतिनिधि बना दिया।

भारतीय और पाश्चात्य चरित्र-परिकल्पना
समानता–असमानता

समानताएं :

नायक को दोनों शास्त्रों में विख्यात, समृद्ध, वैभवशाली, यशस्वी, कुलीन आदि अनेकानेक गुणों से युक्त माना गया है। भरत ने नायक के चार प्रकार माने हैं— धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत तथा अरस्तू ने तीन — आदर्श, वास्तविक और अधम। डा० कीथ के अनुसार यह वर्गीकरण आपस में काफी समान है।[1] इसके साथ ही अरस्तू की भांति नाट्यशास्त्र ने भी पुरुष पात्रों और स्त्री पात्रों के भेद का निरूपण किया है। अरस्तू ने चरित्रों के 'औचित्य' तत्व द्वारा जिस वर्गगत और सामान्य पात्र स्वरूप का संकेत किया है वह सम्पूर्ण संस्कृत नाट्य-परम्परा में व्याप्त है। अरस्तू के कथन 'चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए'[2] का साम्य भारतीय नाट्य-शास्त्र के इस विधान में है, जहां शास्त्रकार कहता है कि, किसी एक प्रबन्ध में प्रधान नायक राम आदि में पूर्वकथित चार अवस्थाओं में से किसी एक को लेकर कुछ दूर चलने के बाद दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित है।[3] पाश्चात्य नाटकों के पात्रों का भी प्राच्य नाटकों जैसा ही वर्गीकरण किया जा सकता है— नायक, नायिका, दुष्ट, विदूषक प्रभृति। डा० नगेन्द्र भी स्वीकार करते हैं कि अरस्तू और भारतीय आचार्यों के मत प्रायः समान ही हैं।[4]

असमानताएं :

स्थूल दृष्टि से तो दोनों शास्त्रों में अनेक समानताएं स्पष्ट दिखाई देती हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनकी असमानताएं बड़ी अधिक महत्वपूर्ण हैं। नायक में अनेक गुणों के साथ अरस्तू यह भी स्वीकार करते हैं कि 'भद्रता' का गुण प्रत्येक वर्ग

१. संस्कृत नाटक : डा० कीथ, पृ० ३८१
२. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : अनु० डा० नगेन्द्र : पृ० ४०
३. संस्कृत नाटक : डा० कीथ, पृ ३५२
४. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : अनु० डा० नगेन्द्र ; पृ० १२४

में सम्भव है। भारतीय नाट्य-शास्त्र ने इस गुण को केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित रखा है। अरस्तू ने स्वीकार किया है कि चरित्र मे सत् के साथ असत् का भी कुछ अंश होना चाहिए। अरस्तू का नायक मूलत सज्जन होने पर भी सर्वथा निर्दोष नही है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने वर्गगत और सामान्य के साथ चरित्र में 'व्यक्ति-वैशिष्ट्य' को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है, जिसका कोई सकेत भारतीय नाट्य शास्त्र मे उपलब्ध नही है। चरित्र-परिवर्तन के विषय मे भी डा० नगेन्द्र मानते हैं कि अरस्तू के अनुसार, चरित्र-चित्रण मे एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है, चरित्र मे नही।[1] भारतीय नाट्य-शास्त्र रस के परिपाक के लिए इस प्रकार के किसी भी परिवर्तन को 'निंदनीय कर्म'[2] मानता है। अरस्तू चरित्र को 'हम जैसा' चित्रित करने का परामर्श देकर उसे वास्तविक जीवन के अधिक निकट ले आते हैं। स्थूलतः 'कोरस' और 'सूत्रधार-नटी' मे समानता दीखने पर भी सूक्ष्मतः उनमे आकाश-पाताल का अन्तर है। सूत्रधार का कार्य नाटक के कथानक से एकदम पृथक होना है जबकि 'कोरस' नाटकीय कार्य-व्यापार का अभिन्न एवं अनिवार्य अंश है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य शास्त्रकार ने अपने शास्त्र द्वारा नाटककार को केवल निर्देश और सकेत दिए हैं। भारतीय शास्त्र की भाति उसे चारो ओर से शिकजे मे जकड़ कर बन्दी नही बना दिया।

पात्र—वर्ग-पात्र, व्यक्ति-पात्र—चरित्र और व्यक्तित्व

वैसे तो किसी भी शब्द का अपना कोई आत्यन्तिक अथवा अपौरुषेय अर्थ नहीं होता; उसका अर्थ वही और उतना ही होता है जितना हम उसे देते हैं, बल्कि देने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। शब्द का अर्थ एक सर्वथा मानवीय आविष्कार है और किसी समय विशेष मे निश्चित किए गए शब्दों के अर्थ समय के साथ-साथ उन्नीस-बीस होते ही रहते हैं।[3] हमारी समस्त नाट्य-समीक्षा मे अब तक 'पात्र' और 'चरित्र' इन दो शब्दो को प्रायः पर्याय रूप मे ही प्रयुक्त किया गया है। परन्तु इन दोनों शब्दो मे अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

पात्र के कोशीय अर्थ हैं—किसी वस्तु का आधार अथवा प्राप्त कर्ता। नाटक के सन्दर्भ में देखें तो ज्ञात होता है कि पात्र निःसन्देह नाटक का आधार ही है और यही वस्तुतः 'चारित्र्य' का प्राप्तकर्ता है। नाटककार इस पात्र मे ही चरित्र भरता है।[4] नाटक के समस्त अभिकर्ता—नायक अथवा केन्द्रीय-चरित्र से लेकर सदेशवाहक या प्रहरी तक—मूलतः पात्र ही होते हैं। बाद मे अपनी-अपनी निहित सम्भावनाओं

१. वही, पृ० ११०
२. संस्कृत नाटक : डा० कीथ, पृ० १५२
३. आत्मनेपद : अज्ञेय : पृ० १६१
४. साहित्य का श्रेय और प्रेय : जैनेन्द्रकुमार, पृ० १७५

के प्रकाशन के आधार पर ही वे 'चरित्र' बनते हैं। जिस प्रकार विभिन्न देशों, जातियों और धर्मों-सम्प्रदायों के एक स्थान पर खड़े लोग सबसे पहले 'मनुष्य' हैं और बाद मे अपने-अपने आचार-विचार, रहन-सहन और क्रिया-कलाप आदि के आधार पर मोहन, इब्राहिम, कुलवन्त और जॉन आदि बनते हैं, ठीक इसी प्रकार नाटक का प्रत्येक अभिकर्ता पहले पात्र है और बाद मे चरित्र बनता है। (यद्यपि अनेक पात्रो के चरित्र का विकास और उसका उद्‌घाटन नही भी होता और नाटक के अन्त तक वे मात्रपात्र ही रह जाते हैं, चरित्र नही बनते)। जीवन के व्यक्ति और नाटक (साहित्य) के पात्र के मध्य कला की एक पतली झिल्ली होती है जो उसे जीवन से सम्बद्ध रखते हुए भी उसे जीवन के राज्य से कला के राज्य मे ले जाती है जिसके कारण पात्र का स्वरूप, उसकी जीवन-विधि और नागरिकता के अधिकार बदल जाते हैं जबकि अधिकांश मौलिक अधिकार समान रहते हैं। इसी पात्र के माध्यम से जब नाटक की घटनाए घटती हैं अथवा वह स्वय घटनाओ से प्रभावित होकर विकसित होता है तो 'चरित्र' बनता है। यही कारण है कि नाटक के आरम्भ मे 'पात्र-परिचय' दिया जाता है, 'चरित्र-परिचय' नही। अभिकर्ता का नाम, उसकी आयु, पद, अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध, उसका रूपाकार—बस यही पात्र-परिचय है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक चरित्र मूलतः पात्र होता है परन्तु प्रत्येक पात्र अनिवार्यतः चरित्र नही होता। नाटक का ऐसा अभिकर्ता जिसकी विशेषताए, जिसके गुण-दोष, जिसका व्यक्तित्व नाटक के दौरान दर्शक पर प्रकट नही हो पाता वह मात्र पात्र ही रह जाता है, चरित्र नही बनता। चरित्र की अपनी निजता और एक व्यक्तित्व होता है। नाटक मे पात्र-निर्माण का कार्य दोहरी तट-स्थता की अपेक्षा रखता है। प्रथम स्तर पर नाटककार से और द्वितीय स्तर पर अभिनेता मे। अतः नाटक की पात्र-सृष्टि कथा-साहित्य की पात्र-सृष्टि से कठिनतर कार्य है।

वर्ग–पात्र ; व्यक्ति-पात्र : चरित्र और व्यक्तित्व

नाटक के अधिकांश पात्र ऐसे होते हैं जो अपनी सम्पूर्ण निजता अपने वर्ग को सौंप कर नाटककार के उद्देश्य की पूर्ति के उपकरण बनते हैं। ऐसे पात्र जो अपनी अपेक्षा अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व अधिक करते हैं, वर्ग-पात्र या 'टाइप' कहलाते हैं। ये सामान्य मनुष्य होते हैं और मुक्ति-बोध के अनुसार सामान्य वह है 'जिसमे अपने भीतर के असामान्य के उग्र आदेश का पालन करने का मनोबल न हो।'' जैनेन्द्र ने वर्ग-पात्र अथवा टाइप की पहचान कराते हुए लिखा है—'दुरुस्त कपड़े, दुरुस्त नीति, दुरुस्त सब कुछ। जैसे ज्यामिति के चतुर्भुज। सब समकोण, विषम कोण कहीं भी नही। वह खुद इतने नहीं जितने कि औसत है। अपने वर्ग के दूसरे आदमी जैसे काट के कपड़े, उसी तर्ज के विचार उसी साचे की नीति, हूबहू वही राय। धक्का उन्हें नहीं लगती। सदा राज-

१. एक साहित्यिक की डायरी : पृ०७७

अपने जीवन में हम देखते हैं कि प्रत्येक आदमी ठीक दूसरे जैसा होकर भी एक, अकेला और अद्वितीय 'व्यक्ति' है। अपने क्रोमोजोन्स, जीन्स, हारमोन्स तथा चेतन अचेतन (जीव विज्ञान, मनोविज्ञान) और परिवेश से बनी एक ऐसी इकाई जो अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक दबावों को झेलते हुए निरन्तर जी रही है या जीना चाह रही है। मनुष्य जिन परिस्थितियों में बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक सम्पन्न व्यक्ति।[1] और सड़क, घर, दफ्तर, काफी हाउस, कालेज, ड्राइंग-रूम या मंच पर कहीं भी टकरा जाने वाला यह मनुष्य ही वस्तुतः वह 'कच्चा माल' है जिससे अपनी कला के स्पर्श द्वारा नाटककार वर्ग-पात्र, व्यक्ति-पात्र और 'चरित्र' कुछ भी निर्मित कर सकता है। चरित्र के एक छोर पर वर्ग-पात्र है और दूसरे छोर पर व्यक्ति-पात्र।

नाटक का चरित्र एक ऐसी कलात्मक और संश्लिष्ट सृष्टि है जिसमें सामान्य और व्यक्ति का समन्वय हो गया है।[2] नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में, 'वस्तु और कलाकार की रागात्मक वृत्ति के बीच एक विशेष प्रकार की कीमियागिरी के बिना साहित्य सम्भव नहीं होता।' मूलतः चरित्र नाटककार की मानस सन्तान है, फिर भी वह चरित्र-सृष्टि में जगत और जीवन के यथार्थ से अपने को अलग नहीं कर सकता।[3] यद्यपि यह सत्य है कि कला का यथार्थ वस्तु-जगत् के यथार्थ से भिन्न होता है क्योंकि नाटककार उसमें बहुत कुछ छोड़ता और अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ता है और इस प्रक्रिया के द्वारा वह एक नया चरित्र रचने की चेष्टा करता है। इस सत्य को हृदयंगम किए बिना ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्रों पर रचित उन अनेक नाटकों की सार्थकता और कलाकारी के चरित्रों की व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती। चरित्र वास्तव में एक आयामी 'हां' या 'न' के सांचों में ढले पुतले नहीं होते, वह बहु आयामी 'हां' या 'न' को एक साथ और निरन्तर जीते चलते हैं, इन्हीं की जीवनी-शक्ति से भरपूर जटिल और जीवन्त व्यक्तित्व वाले पात्र बनते हैं। नायक के स्थान पर ऐसे चरित्र (केन्द्रीय चरित्र) का आगमन वास्तव में [illegible] परिवर्तन की ही देन है।

[illegible] दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि नाटक का [illegible]

---

१. आत्मनेपद—अज्ञेय, पृ० ७१

२. सिद्धांत और अध्ययन : गुलाबराय, पृ० ६०

३. बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ० ५७

४. "... and will build within the person a synthesis of individual, typical and universal characters". -Dictionary of World Literature p. 51.

अधिक सामान्यीकृत और दर्शक का जाना-पहचाना होता है कि उसकी प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया का पूर्वानुमान हो जाने के कारण दर्शक का उससे इतना अधिक तादात्म्य हो जाता है कि उसमें रुचि अथवा जिज्ञासा निःशेष हो जाती है। इसके विपरीत व्यक्ति-पात्र इतना अधिक असामान्य और विचित्र होता है कि दर्शक का उससे तादात्म्य नहीं हो पाता और उसके प्रति केवल विस्मय-बोध ही उत्पन्न होता है।

सफल नाटकीय चरित्र से एक ओर दर्शक का तादात्म्य स्थापित होता है तो दूसरी ओर जिज्ञासा भी बनी रहती है। यवनिका उठने से गिरने तक वह दर्शक को बांधे रखता है और उसे प्रभावित करता है। कुछ पात्र चरित्र से भी आगे बढ़कर 'व्यक्तित्व' के स्तर तक पहुँच जाते हैं। उनका अन्तर-बाह्य मिलकर दर्शक पर ऐसा प्रभाव डालता है कि नाटक की समाप्ति पर दर्शक को प्रतीत होता है मानो उस चरित्र का व्यक्तित्व मंच से हट कर उसकी चेतना पर छा गया है, उसके अपने व्यक्तित्व का अंग बन गया है, वह उसे उत्तेजित और परेशान कर रहा है। इस व्यक्तित्व की व्याख्या तो शायद हो सके परन्तु विश्लेषण सम्भव नहीं होता। ऐसे व्यक्तित्व सम्पन्न चरित्र विरल ही होते हैं और युगानुरूप नये रूपों और नई व्याख्याओं के साथ जीवित रहते हैं।

चरित्र की आत्मा—नाटकीय चरित्र की आत्मा अथवा जीवन-शक्ति है—द्वन्द्व और संघर्ष।[1] द्वन्द्व के बिना शक्ति या गति उत्पन्न नहीं हो सकती। विधाता की सृष्टि के विकास का मूल भी द्वन्द्व ही है। फिर, यह द्वन्द्व चाहे सांख्य-दर्शन के पुरुष और प्रकृति का हो या हीगेल के 'थीसिस' 'एण्टीथीसिस' का, चाहे [illegible] और शिव का हो या अणु में इलेक्ट्रोन-प्रोटोन का। एक बार शक्ति प्राप्त हो जाने के बाद यह प्रयोक्ता पर निर्भर करता है कि वह उस शक्ति को हाथ-पाँव, कल-पुर्जे अथवा [illegible] गति प्रदान करे या उसे ध्वनि, प्रकाश, ऊष्मा आदि में परिवर्तित कर दे। यह चरित्र के विवेचन में यह गौण बात है कि वह ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक का राजा या देवता है अथवा यथार्थवादी नाटक का गृहस्वामी, [illegible] या मजदूर। प्राण तो [illegible] में भी है और [illegible] में भी, अतः हमें देखना यह होता है कि किसी चरित्र में प्राण-शक्ति अथवा द्वन्द्व कितना और कैसा है? चरित्र-सृष्टि करते समय नाटककार की मूल समस्या वास्तव में किसी चरित्र में उसके मूल द्वन्द्व या संघर्ष की स्थापना ही होती है। इसके पश्चात् यह बात उस चरित्र के व्यक्तित्व और परिवेश पर निर्भर करेगी कि यह द्वन्द्व उसके चरित्र का किन-किन शारीरिक, मानसिक और [illegible] स्तरों पर किस रूप में और किस प्रकार व्यक्त होता है [illegible]

1 'All Drama ultimately arises out of conflict.'
Theory of Drama 'A. Nicoll'-p. 92

व्यक्तित्व की निजता मे जितना गहरा और गम्भीर विरोध समा सकता है, उतना ही उसका महत्व है।"

सर्वाधिक सरल और सपाट तथा लोकप्रिय चरित्रो मे यह द्वन्द्व विशुद्ध वैयक्तिक स्तर पर ऊपर उठता है, यहा स्थूलतः सघर्ष 'अच्छे' और 'बुरे' मे है और नाटककार इन भावनाओ का आरोपण क्रमशः 'नायक' और 'खलनायक' पर करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। परन्तु अधिक महत्वपूर्ण और गम्भीर चरित्रो मे यह द्वन्द्व नायक और नियति अथवा परिस्थितियों के मध्य हो सकता है अथवा सामाजिक रीति-रिवाजो, रूढियों, धार्मिक-नैतिक आदर्शों के प्रति या फिर यह सघर्ष व्यक्ति के भीतर ही विद्यमान प्रतिपक्षी अथवा विरोधी शक्तियों के प्रति हो सकता है। इस सन्दर्भ मे विलियम आर्चर का यह कथन उल्लेखनीय है—"Drama is a representation of the will of man in conflict with the mysterious power or natural forces which limit and belittle us. It is one of us thrown living upon the stage there to struggle against fatality, against social law, against one of his fellow mortals, against himself if need be against the ambitious, the interests, the prejudices, the folly, the malevolence of those around him."[2]

परन्तु यह संघर्ष चाहे किसी रूप मे हो, होना अवश्य चाहिए, इसके बिना किसी जीवन्त चरित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।[3]

उच्चतर नाटको मे, जिनमे जीवन की ज्वलत समस्याओं से युक्त समकालीन महत्व के विषय लिए जाते हैं, विरोध एक अच्छे आदमी और एक बुरे आदमी के बीच नही होता, ऐसे दो व्यक्तियो के बीच होता है जो अपने को ठीक समझते है—वास्तव मे दोनो ही अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक भी होते हैं। सच्चा नाटककार पक्षपात नही करता, वह निरपेक्ष भाव से पात्रो को अपने आपको सच्चाई से अभिव्यक्त करने देता है। साधारणत. जहा एक व्यक्ति अच्छा ही अच्छा और दूसरा बुरा ही बुरा दिखाया जाए वहा सघर्ष आरोपित तुच्छा और गलत हो जाता है।

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय : पृ० १४

2 Play making (1926) p. 23

रगमच और नाटक की भूमिका—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० ६७ मे उद्धृत

3 " A play in which the element of conflict is slight will always be foun defective as a play, however great its other merits may be" p 199

An Introduction to the Study of Literature,

W. H. Hudson.

पात्र-चरित्र : सृजन

वर्ग-पात्र-निर्माण वस्तुतः व्यक्ति को किसी वर्ग विशेष में सामान्यीकृत करने से बनता है। वर्ग-पात्र निर्माण के पीछे नाटककार की यह धारणा रहती है कि प्रत्येक देश की परम्परा, जाति, वर्ग और कृति के अनुसार ही मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है। भारतवर्ष में ब्राह्मण क्षमाशील और तपस्वी, कभी-कभी क्रोधी और शाप देने वाला भी; क्षत्रिय, शूरवीर, पराक्रमी और क्रोधी ; वैश्य दब्बू और लोभी तथा शूद्र को दीन और कायर माना जाता है। "इस तरह देश, जाति और वृत्ति के अनुसार भी मानव-स्वभाव का निर्माण होता है।"[1] नाटककार किसी वर्ग-चरित्र का निर्माण करने के लिए उस वर्ग-विशेष के स्वभाव, प्रवृत्ति, भाषा, वेशभूषा आदि का आरोप उस व्यक्ति पर कर देता है। इस कार्य के लिए नाटककार को 'लोक हृदय की पहचान'[2] होना आवश्यक है। कभी नाटककार अपने कतिपय आदर्शों एवं जीवन सिद्धान्तों के साँचे में ढाल कर पात्रों का निर्माण करता है और कभी उन्हें मात्र कुछ भावों या प्रवृत्तियों का प्रतीक ही बना देता है। केवल अपने आदर्श पात्रों को अधिक प्रखर और स्पष्ट बनाने के उद्देश्य से प्रतिपक्षी पात्र की सृष्टि वर्ग-पात्र के ही उदाहरण हैं। आजकल प्रतिभाशाली नाटककार, विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक नाटकों में, विभिन्न मनोवृत्तियों के वर्ग-पात्रों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वे केन्द्रीय पात्र के चित्र की विभिन्न रंग-रेखाएं बनकर भी अपना अलग अस्तित्व बनाए रखते हैं। यह चरित्र-चित्रण की अत्यन्त महत्वपूर्ण परन्तु कठिन कला है। जैनेन्द्र के शब्दों में—"व्यक्तियों के पोर्ट्रेट होते हैं, जाने के पोर्ट्रेट के ये टाइप हैं। लगता है कि लोकाचार इसी टाइप पर ठप कर चलन में आता है। यह टाइप निःसन्देह कम घिसता है; टिकाऊ है और पक्का है।"[3] श्री फोर्स्टर (Forster) इस वर्ग-पात्र को स्थिर (Flat) चरित्र मानते हैं और व्यक्ति-चरित्र को गतिशील (round)।[4] फोर्स्टर के अनुसार गतिशील चरित्र स्वतंत्र और अद्भुत होते हैं अतः उनके विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, जबकि स्थिर पात्र केवल वहीं कर सकते हैं जो वे करते हैं और दर्शक उनकी आदतों, स्वभाव, क्रिया-कलाप आदि के विषय में प्रायः सब पहले से ही जानता है और जिस व्यक्ति का बाह्य-स्वरूप और कर्म-व्यापार बहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट होता है उसके प्रति हमारा आकर्षण भी कुछ कम हो जाता है।

---

1. रस मीमांसा : सीताराम चतुर्वेदी, पृ० १३०
2. भाग-१ : रामचन्द्र शुक्ल पृ० २२१
3. काम प्रेम और हम पृ० १३८
4. Aspects of the Novel p 65

यदि पात्र केवल भावमूलक ही हों और वास्तविक जगत से एकदम दूर हों तो उनमें विश्वास करना कठिन हो जाता है और वे अनुभव की तीव्रता को नष्ट कर देते हैं। अतः नाटकीय चरित्रों का 'यथार्थ' और 'वास्तविक' होना आवश्यक है। तब क्या 'वास्तविक' और यथार्थ व्यक्ति चरित्र बनाने के लिए नाटककार को पात्र के रूप-रंग, कपड़े-चेहरे की बनावट, बात करने का ढंग, विशेष आदतें, तकिया-कलाम और शब्द-विशेष का स्पष्ट ब्योरेवार चित्रण करने से काम चल जाएगा। लेकिन क्या इससे उसके व्यक्तित्व की कुछ भी भनक हमें मिलेगी? व्यक्ति की वास्तविकता तो हमें इन ब्योरों के नीचे जाने से मिलेगी। जैनेन्द्र का विचार है कि जिसमें विशद् आकृति-वर्णन मिलता है और पात्र को मानसिक से अधिक शारीरिक अथवा सामाजिक बनाया जाता है वहां वह पात्र और दृष्टियों से सुनिर्दिष्ट भले हो जाए, प्रभावकारी उतना नहीं हो पाता।[1] अतः नाटककार को व्यक्ति के मन का चित्र ही प्रस्तुत करना चाहिए।

ऊपर हमने देखा कि एक ओर तो वह पात्र हैं कि मिलते ही जिस का सब कुछ हमारे सामने आ जाता है, उसका चेहरा, उसके कपडे, उसका रंग, उसका रूप, उसका प्रयोजन। दूसरा वह है कि जिससे मिलकर मानो यह मालूम भी नही होता कि आपने वस्त्र देखें हैं या कि रूप अथवा आकार देखा है। मानो एक साथ उस देह के भीतर जो है और जो अगम और अवन्ध है, उसकी छाप आपको छूती है। जैनेन्द्र इनमे से प्रथम को हल्का और दूसरे को गहन चरित्र मानते हैं।[2] वर्गसां का विचार है कि त्रासदी मे 'व्यक्ति' और कामदी मे 'टाइप' चरित्र होते हैं।[3]

हमारा विचार यह है कि जहा तक नाटक के चरित्रका प्रश्न है, उसमे उपरोक्त दोनो गुणो का सामजस्य होना चाहिए। कथाकार जैनेन्द्र की धारणा कहानी, उपन्यास आदि के विषय मे सही हो सकती है, नाटक के विषय मे नही। सत्य तो यह है कि पात्र के केवल बाह्य रूपायोजन के उपादान प्रस्तुत करने वाली रचना व्यक्ति नही पुतला खडा करती है तो दूसरी ओर केवल व्यक्ति का मनोविश्लेषण करने वाली रचना व्यक्ति को नही केवल उसके प्रेत को ही दिखा पाती है।

नाटक के चरित्र-निर्माण मे पात्र की बाह्य रूपाकृति के चित्रण का नि.सन्देह अपना विशेष महत्व है। बैंकेट का कथन है कि 'वस्तुत शरीर का भ्रष्ट और विकृत होना ही आत्मा के क्षरित होने का विम्ब प्रस्तुत करता है।' अनेक वैज्ञानिकों का दावा है कि वे मनुष्य की शारीरिक यष्टि को देखकर उसके व्यवहार और

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय : पृ० १८०

२. वही पृ० १८१

3. The Life of Drama : Eric Bently : p. 43.

चरित्र के विषय मे निश्चित रूप से अनेक भविष्य वाणियां कर सकते हैं।[1] आकृति विज्ञान (Physiognomy) आज के युग के विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है। जिसमे शारीरिक बनावट और उसकी विशेषताओ द्वारा व्यक्ति के मानस का अध्ययन किया जाता है। इसमे शरीर का प्रत्येक अवयव अत्यन्त महत्वपूर्ण और अभिव्यक्ति पूर्ण माना जाता है।[2] अतः चरित्र की मानसिक शक्तियो का उसकी शारीरिक बनावट से सामजस्य होना अत्यन्त आवश्यक है, इनका असामंजस्य ही पात्र को विदूषक बना देता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चरित्र मे वर्ग और व्यक्ति का अद्भुत एवं कलात्मक समन्वय होना चाहिए। डा० जानसन का कथन है कि—"Nothing can please many and please long but just representations of general nature."[3]

इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भ मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि—'एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नही मिलती; परजब मनुष्यो की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति भावना भी बंधती है जिसके कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति मे भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अन्तर्भूमियां हैं जहां पहुंचने पर अभिन्नता है।"[4] नाटककार का कार्य इन अभिन्न अन्तर्भूमियों की तलाश करके उनकी नीव पर किसी व्यक्ति विशेष का निजता-सम्पन्न व्यक्तित्व प्रस्तुत करना ही है। यह समान-अन्तर्भूमियां दर्शक का साधारणीकरण करके उसे तादात्म्य का आनन्द प्रदान करती है और चरित्र की निजता दर्शक को आकर्षित-विस्मित करके 'यवनिका पतन' तक उसे नाटक से बांधे रखती है। नाटककार 'सामान्य' की 'असामान्यता' और 'असामान्य' की 'सामान्यता' चित्रित करके ही अपने चरित्र में आकर्षण उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त उसके चरित्रों का स्वरूप निर्धारित करने में जाने अनजाने अभिनेता, रंगमंच और दर्शकों का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है। यूनान का सर्वोत्तम नाटककार साफोक्लीज अपने मुख्य पात्रों को किसी विशेष अभिनेता के

1. "......The body structure provides the raw material out of which personality is formed : That is the instrument upon which the life forces, both internal and external, play"—Child Behaviour.
Francis L. ILG and Louise Bates Annes. p. 44.

2. The whole body is physiognomically expressive, head, face, trunk, hands, feet, walk, voice, texture of hair and skin—
Character Reading From the Face—By Grace A. Rees p. 12

3 The Life of Drama, Eric Bently, p. 41

४ चिन्तामणि, भाग-१, पृ० [illegible]

अनुसार रचता था। शेक्सपियर ने 'हेमलेट' की सृष्टि बर्बेज के लिए की थी।[1] एथेन्स में डायनीसियस की रंगशाला को देखकर ही यह समझा जा सकता है कि यूनानी अभिनेता ऊँचे-ऊँचे बूट और बड़े-बड़े मुखौटे क्यों पहनते थे। नाटककारों द्वारा परिचित चरित्रों के चुनाव और उसमें तीव्र शारीरिक क्रिया-व्यापार के बहिष्कार का रहस्य भी इसी माध्यम से समझा जा सकता है। नाटक नाटककार की आत्मतुष्टि के लिए नहीं होता, उसे जनता के आत्म-उद्घाटन के कर्त्तव्य की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शेक्सपियर स्वयं चाहे भूत-चुड़ैलों में विश्वास करते हों अथवा नहीं, परन्तु वे जानते थे कि उनके दर्शकों को इन अति-मानवी प्राणियों और प्रेत छायाओं के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है। इसी से जहां अवसर हुआ उन्होंने इनका उपयोग करने में कभी संकोच नहीं किया। चरित्र की सृजन-प्रक्रिया के विषय में मुक्तिबोध का प्रस्तुत कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण और सही है—

'विभिन्न व्यक्तियों के लिए सृजन प्रक्रियाएँ भिन्न हैं, विभिन्न युगों में सृजन प्रक्रियाएं अलग-अलग होती हैं। विभिन्न साहित्य-प्रकारों के लिए भी सृजन-प्रक्रियाएं भिन्न-भिन्न होती है।'[2]

अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रक्रिया को 'गुह्य' (mysterious) कहा है और थेकरे भी 'Occult' शब्द द्वारा इसी रहस्यमयता की ओर संकेत करता है, जब वह कहता है कि—'मैं अपने चरित्रों को नियंत्रित नहीं करता, मैं उनके हाथों में हूं, और जहां उनकी इच्छा होती है वे मुझे ले चलते हैं।'[3] अतः चरित्र-सृजन का कोई बना-बनाया फार्मूला नहीं हो सकता। चरित्र का स्वरूप और उसका विकास कैसा होगा यह नाटककार के अपने व्यक्तित्व नाटकीय कथा और उसके पात्रों पर ही निर्भर करता है।

चरित्रांकन और उसकी प्रणालियां

नाटक चरित्रांकन और मनोविज्ञान की सूक्ष्मता के कारण ही महान् होते हैं। पात्रों के चरित्र के विधायक आधारभूत गुणावगुणों का उल्लेख या परिगणन-मात्र नाटकीय चरित्रांकन नहीं है। नाटककार अपने पात्रों के चरित्रांकन के लिए आवश्यक प्रसंग-सृष्टि खड़ी करके, पात्रों के जीवन-व्यवहार के माध्यम से ही उनके गुणावगुणों को प्रत्यक्षकरावर पात्रों को अधिकाधिक सजीव एवं मांसल रूप में प्रस्तुत करता है।

---

१. नाटक साहित्य का अध्ययन : बैंडर मैथ्यूज, पृ० १६-१७
२. एक साहित्यिक की डायरी : मुक्तिबोध, पृ० ११
3. An Introduction to the Study of Literature- W. H. Hudson, P. 145.

सामान्यतः चरित्रांकन की दो मान्य प्रणालियाँ प्रचलित हैं:—

(क) प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषणात्मक, और

(ख) परोक्ष या नाटकीय।[1]

प्रत्येक कला अपने माध्यम की सीमाओं से बंधी रहती है। कला की उत्कृष्टता इस बात पर भी निर्भर करती है कि कलाकार ने अपने माध्यम की सम्भावनाओं का कितना और कैसा उपयोग किया है। नाटककार की सीमा है कि वह इन प्रणालियों में से केवल परोक्ष या नाटकीय विधि का ही प्रयोग कर सकता है। उसे कथाकार की भांति अपने पात्रों का मनोविश्लेषक अथवा आधिकारिक व्याख्याता होने की सुविधा प्राप्त नहीं है। यह नाटककार की सीमा भी है और शायद सामर्थ्य भी; क्योंकि इसी सीमा के कारण नाटककार हमारे सम्मुख ऐसे जीवन्त पात्रों को लाता है जो स्वयं अपने कार्यों और वचनों से ही उजागर होते हैं, जबकि उपन्यासकार की यही सामर्थ्य उसकी सीमा बन जाती है जब वह निरीह और लंगड़े पात्रों को अपने विश्लेषण और विवरण की बैसाखियों के सहारे चलाने का प्रयास करता है। उपन्यास मे लेखक समय-समय पर तथ्य-उद्घाटक और व्याख्याता के रूप मे उपस्थित हो सकता है, होता है, नाटककार को यह सुविधा नहीं हैं। अपने नाटक के विषय में नाटककार का यह कथन कि *'मैं इसमें सर्वत्र हूँ, और कहीं भी नहीं हूं। यह मेरी सीमा है और यही मेरा सामर्थ्य है।'*[2] इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

नाटककार अपने नाटक में एक बना-बनाया चरित्र प्रस्तुत करता है। पात्र को नाटक मे जैसा होना चाहिए वैसा होता है, परन्तु वह वैसा कैसे बना, नाटककार हमें यह नही बताता, या तो वह जानता नही है या उसे बताने की चिन्ता नहीं होती। इसके विपरीत कथाकार चरित्रको इस बिन्दु से भी प्रस्तुत कर सकता है, करता है कि वह जैसा है वैसा हुआ क्यो, और वैसा होकर वह क्या कर रहा है, इसे गौण मान ले सकता है।[3] इसके अतिरिक्त उपन्यास और नाटक में एक और मूल भेद यह है कि जहां कथाकार का माध्यम केवल भाषा है वहां नाटककार का माध्यम भाषा के साथ रंगमंच भी है। नाटककार के लिए रंगमंच का अर्थ है कि वह शक्ति और तत्व, जिसके द्वारा नाटक मूर्त और जीवन्त रूप धारण करता है और रंगमंच की सभी शैलियो में निश्चित रूप से वर्तमान रहता है। अतः नाटककार को एक साथ ही दो माध्यमो पर काम करना पड़ता है।

यही प्रश्न उठता है कि यदि नाटककार को कथाकार की भाति चरित्र के प्रत्यक्ष या

1. Dictionary of world literature, p 91

२. कलंकी : डा० लाल : पृ० ६४

३. आत्मनेपद : अज्ञेय, पृ० ७१

चाहिए :—

(१) कार्य-व्यापार अथवा पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार द्वारा, (२) संवाद द्वारा, (३) अन्य व्यक्तियों के द्वारा उनके चरित्र की सांकेतिक धारणा या सम्मति द्वारा, (४) एकान्त में स्वगत भाषण द्वारा, (५) नींद में स्वप्न-दर्शन या बड़बड़ाहट द्वारा, (६) वेश-भूषा द्वारा, (७) मुख मुद्राओं व आंगिक चेष्टाओं द्वारा, (८) मनोद्वन्द्व द्वारा, (९) विरोध (contrast) के लिए खड़े किए गए पात्रों द्वारा, तथा (१०) आत्मविश्लेषण द्वारा।[1]

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने चरित्र-चित्रण के लिए केवल चार माध्यमों को ही महत्वपूर्ण माना है—

१. **बाह्य स्वरूप** . अर्थात् चरित्र की शारीरिक दशा, वेश-भूषा, उम्र आदि।

२. **भाषा** : अर्थात् चरित्र जिस तरह की भाषा प्रयोग करता है, जिस तरह वह बोलता है, जैसा उसका उच्चारण है, बोली की गति है, जैसी उसकी आवाज है, इन सब के द्वारा चरित्र की पहचान बहुत ही स्वाभाविक है।

३. **कार्य** . अर्थात् चरित्र अपने व्यवहार से, अपने छोटे-छोटे कार्यों से अपने व्यक्तित्व की, मनोभाव की सारी सूचनाएं दे जाता है। और,

४. **अन्य पात्रों की धारणाएं** - अर्थात अमुक चरित्र के बारे में अन्य पात्र क्या कहते हैं और उसके लिए वे क्या विचार और प्रतिक्रियाएं रखते हैं।[3]

हडसन ने इन्हें और भी संक्षिप्त रूप देकर दो माध्यमों में सीमित कर दिया है —

(१) प्लाट के माध्यम से—प्लाट से उनका तात्पर्य 'मैन इन ऐक्शन' से है, और

(२) संवाद।[4]

हमारे विचार से चरित्र-चित्रण के तीन ऐसे मूलभूत माध्यम हैं जिनमें उपरोक्त सभी बातों का समावेश हो जाता है—

१ आज का नाटककार भी कोरस, (उत्तर-प्रियदर्शी) कथागायक (अंधायुग, कोणार्क) नट-नटी (पहला राजा) अथवा कोई ऐसा पात्र जो नाटक की व्याख्या करता चले (जैसे मादा कैक्टस' का सुधीर 'एवं इन्द्रजित' का लेखक या 'त्रिशंकु' का थियेटर) के प्रयोग द्वारा यह सुविधा प्राप्त करने लगा है।

२. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला : पृ० १५०

३. रंगमंच और नाटक की भूमिका : पृ० ११७-१८

4. An Introduction to the Study of Literature : p 190-91

(१) बाह्य स्वरूप जिसे हडसन महोदय ने छोड़ दिया है और डा० नगेन्द्रनाथ ने इसे अनावश्यक रूप से 'वेश-भूषा' तथा 'मुख-मुद्राओं व आंगिक चेष्टाओं' नामक दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। चरित्र-चित्रण का निःसन्देह यह एक सुन्दर और आवश्यक माध्यम है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

(२) कार्य-व्यापार डा० नगेन्द्रनाथ द्वारा बताए गए—कार्य-व्यापार अथवा पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार तथा विरोध के लिए गढ़े किए गए पात्र नामक दोनों वर्गों का समावेश इसमें हो जाता है। डा० लाल और हडसन महोदय भी इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माध्यम मानते हैं। नाटक का कार्य-व्यापार एक प्रिज्म के समान है जिसमें पात्र रूपी किरण गुजरकर अपने चारित्र्य के विभिन्न रंगों को प्रकाशित कर देती है। हडसन का विचार है कि Drama affords little scope for characterisation divorced from action.[2]

घटनाओं की क्रिया प्रतिक्रिया ही नाटक में 'कार्य' कहलाती है।[3] इसी से चरित्रों का उत्थान-पतन होता है और वे अपने जीवित होने का प्रमाण देते हैं। पात्र के अपने कार्य-कलाप से बढ़कर, उसके चारित्र्य के विषय में, कोई दूसरा प्रामाणिक व्याख्याता नहीं हो सकता। उसके 'कार्य' के समक्ष शब्द व्यर्थ हैं। अज्ञेय का यह कथन 'नाटकीय कार्य' के सन्दर्भ में भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि—'परिचय प्राप्त करने के लिए अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं है, वह तो मुस्करा भर देने से हो जाता है।'[4] आधुनिक युग के कुछ नाटककार तो संवादों का बहिष्कार कर केवल 'कार्य' और मूक-अभिनय द्वारा भी नाटक और चरित्रों की सृष्टि करने लगे हैं उदाहरणार्थ—बेकेट का एक नाटक है 'खेल खत्म,' इसमें दो अंक हैं और दूसरे अंक में कोई संवाद नहीं है। सम्पूर्ण अंक मूक अभिनय से अभिनीत किया जाता है।

'एब्सर्ड थियेटर' के नाटककार मानते हैं कि आज का जीवन नीरस, एकरस और अर्थहीन है उसमें वस्तुतः कुछ भी घटित नहीं होता, अत नाटककार का कर्तव्य है कि वह रंगमंच पर काल्पनिक घटनाओं को प्रदर्शित न करके मानवीय स्थितियों की प्रतिनिधि परिस्थितियों को प्रस्तुत करे; मंच पर कुछ भी 'घटित' नहीं होना चाहिए।[5] परन्तु हिन्दी नाटक के सन्दर्भ में यह बात अभी अप्रासंगिक ही कही जायेगी।

---

१. इसका विस्तृत विवेचन हम 'पात्र-चरित्र-सृजन' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं।

2 An Introduction to the Study of Literature . p. 187.

3. "...... action reveals character and that character demonstrates itself in action and action is only another word for incident"
The Short Story :Seon 'O' Faolain p. 165-

४ शेखर : एक जीवनी (भाग पहला), पृ० २६५

5. The Hindustan Times, Sunday Nov. 2 1969

दृश्य बंध, रंगमंच निर्देश, प्रतीक, संगीत, प्रकाश, मौन और विभिन्न आवाजों—ध्वनियों के सार्थक और उपयुक्त प्रयोग द्वारा भी चरित्र को अधिक स्पष्ट, प्रखर और जीवन्त बना देते हैं। इसे हम 'वातावरण' की संज्ञा दे सकते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तो नाटक और रंगमंच में आधुनिकता का सूत्रपात वातावरण के महत्व की स्वीकृति के साथ-साथ हुआ। वातावरण को संघर्ष के स्रोत के रूप में उपस्थित किया गया और उसे प्रति-नायक का स्थान प्राप्त हुआ।[1] आजकल चरित्र का अन्तरंग परिचय और विकास दिखलाने के लिए स्वगत-भाषण से भी अधिक महत्वपूर्ण वातावरण सृष्टि कला होने लगी है जिससे चरित्र का ज्ञान और चरित्र-ज्ञान से नाटककार के जीवन ज्ञान का भी आभास होता है।[2] नाटक का निर्माण करते समय प्रत्येक नाटककार को अपने चरित्रों और उनकी क्रियाओं के लिए विशिष्ट वातावरण की योजना करनी पड़ती है। वातावरण का प्रयोग अनेक उद्देश्यों से किया जाता है परन्तु मुख्य ध्येय है चरित्र और नाटक के मूल उद्देश्य की व्याख्या।

चरित्र-सृष्टि के साधन के रूप में रंगमंच-निर्देश का भी आजकल अत्यधिक उपयोग होने लगा है। इसका कारण यथार्थवाद का प्रभाव है क्योंकि इनके द्वारा नाटककार को यथार्थ चरित्र और जीवन को मंच पर उपस्थित करने की अधिक सुविधा मिल जाती है। इस साधन की विशेषता चरित्र को अत्यन्त सजीव, यथार्थ और मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत करने में है। परन्तु रंगमंच-निर्देशों का अत्यधिक प्रयोग यह सिद्ध करता है कि नाटककार को अपने माध्यम पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है और वह उसकी पूर्ति कथाकार के माध्यम से करना चाह रहा है। अतः इनकी अति से बचना ही चाहिए।

बातचीत, कथोपकथन और संवाद

सम्पूर्ण वाङ्मय का सृजन शब्दों से होता है। परन्तु नाटक की यह विशेषता है कि इसकी सृष्टि का आधार उच्चरित शब्द है। अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में लिखा है--

---

१. रंगमंच : एक माध्यम कुँअर जी अग्रवाल (आलोचना, जुलाई, १९६६), पृ० ८४

२. देखिए—कैरेक्टर एण्ड सोसाइटी इन शेक्सपियर : आर्थर सीवेल, पृ० ६, १०, १४, २०.

शब्द अधूरे हैं, उच्चारण मांगते हैं।'[1] और शब्दों के उच्चारण की माग को पूरा कर नाटक इनका अधूरापन समाप्त कर देता है। शास्त्रों ने शब्द को ब्रह्म कहा है और नाटककार के लिए शब्द-साधना ही समस्त उपलब्धियों का मूल है। फ्रायड ने भी शब्द और केवल शब्द को ही व्यक्ति चरित्र के समस्त रहस्यों को उद्घाटित करने वाला अचूक साधन माना है और नाटककार इस साधन का भरपूर उपयोग करता है।[2] नाटक में 'शब्द के स्थान पर शब्दों से बनने वाले चरित्र-सम्बन्धों और स्थितियों के गुम्फन का उद्घाटन' ही मुख्य बात है।

नाटक में गुजरते प्रत्येक क्षण को नाटककार कार्य अथवा संवाद द्वारा ठीक उसी प्रकार भरता है जैसे कि चित्रकार अपने कैनवास का प्रत्येक इंच प्रभावपूर्ण और उचित रंग से। जिस प्रकार चित्रकार सफेद कैनवस पर सफेद रंग से भी एक नया प्रभाव उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कभी-कभी नाटककार भी कार्य-व्यापार अथवा संवादों के बीच एक सार्थक मौन की नियोजना करता है। अज्ञेय के अनुसार 'शब्दों के अन्तराल में, पदों-वाक्यांशों की यति में उस यति के मौन में एक शक्ति है'।[4] और नाटककार इसी शक्ति का उपयोग अपने नाटकों में करता है। आज जबकि साहित्यकार ने जीवन और कला की प्रत्येक विभाजक रेखा को समूल नष्ट कर डालने का बीड़ा उठा लिया है, प्रश्न उठता है कि जब हम नाटककार से आशा करते हैं कि वह अपने नाटक के पात्रों से स्वाभाविक, पात्रानुकूल और यथार्थ जीवन की भाषा बुलवाए, तब हम उससे क्या चाह रहे होते हैं ? क्या फुटपाथ या चौराहे पर खड़े, ड्राइंग-रूम या कॉफी हाउस में बैठे दो या चार व्यक्ति जिस प्रकार की और जैसी भाषा का प्रयोग करते हैं—जिसे हम 'बातचीत' या वार्तालाप कहते हैं—नाटककार उसे ज्यों का त्यों अपने पात्रों को दे सकता है ? हमारा उत्तर है—नहीं। यद्यपि इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि नाटकीय संवादों का मूलाधार यह सामान्य जीवन की साधारण बातचीत ही होती है। कोई भी नाटककार इसे वस्तुतः उसी व्यावहारिक उच्चारण 'अटरेंस' के दायरे में सीमित रखता है जो

---

१. नदी के द्वीप : अज्ञेय : पृ० ३०१.

2. "......The words are there like traps to arouse our feelings and to reflect them towards us. Each word is a path of transcendence; it shapes our feelings, names them, and attributes them to an imaginary personage who takes it upon himself to live them for us and who has no other substance than these borrowed passions. he confers objects, perspectives and a horizon upon them."
(What is Literature ? Sartre p. 31-32)

३. नयी कविता : अर्थ और प्रवृत्ति—पूर्वग्रह : [illegible] : पृ० ३२

४. नदी के द्वीप : अज्ञेय, पृ० ३०१

मनुष्यों की भाषा का निर्माण करते हैं। इस सीमा-क्षेत्र के भीतर ही कोई कृति जन्म ले सकती है। इसके बाहर न तो उसकी सत्ता होती है और न उसकी सम्भावना ही है।[1] एब्सर्ड थियेटर के चरित्र जीवन की निरर्थकता और फूहड़ता को दिखाने के लिए केवल 'बातचीत' ही करते है। (His characters talk, but say nothing.)[2] यह 'बातचीत' अत्यन्त अव्यवस्थित और फूहड़ होने का भ्रम उत्पन्न करती है परन्तु इसमें भी नाटककार सम्पूर्ण-प्रभाव, व्यवस्था, अनुशासन और कला का अत्यन्त ध्यान रखता है। (हिन्दी नाटक की दृष्टि से अभी इसका उल्लेख अप्रासंगिक ही है।) दैनिक जीवन मे व्यवहारत हम जो बातचीत करते है वह अत्यन्त अव्यवस्थित, ऊबड़-खाबड़ और अनर्गल भी होती है। इसके अतिरिक्त जीवन मे बातचीत का प्रत्येक कथन प्रायः या तो बहुत लम्बा होता है या बहुत छोटा, जबकि नाटक मे प्रत्येक कथन ठीक उतना ही होता है जितना कि उसे होना चाहिए।[3] यह भाषा वास्तव मे वह 'कच्चा-माल' है जिससे नाटककार समग्र और तीव्र प्रभाव की आवश्यकतानुसार *चयन करके नाटकोपयुक्त और पात्रानुकूल व्यवस्थित, साहित्यिक और* नाटकीय-भाषा का निर्माण करता है। प्रत्येक नाटककार को अपनी भाषा स्वयं गढनी पड़ती है। उसे ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग करना होता है जो दोहरा-प्रभाव उत्पन्न करे। एक ओर उसमें नाटककार के अपने, व्यक्तित्व और निजत्व की छाप होनी चाहिए और दूसरी ओर यह उन संवादों के वक्ता के व्यक्तित्व के भी उपयुक्त होनी चाहिए।[4] नाटककार को भाषा के स्तर पर भी इस दोहरी प्रक्रिया की कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता है।

यहीं अत्यन्त संक्षेप में नाट्य-भाषा की सरलता या कठिनता की समस्या पर भी विचार कर लेना उपयोगी होगा। इस सम्बन्ध मे पिरँडेलो से पूर्णतः सहमत होते हुए हमें केवल यही कहना है कि जो अच्छा नाटककार है उसके नाटक मे पात्र न आसान जबान बोलता है न कठिन। वह केवल वही शब्द बोलता है जो उसे उस स्थिति में उस भाव को व्यक्त करने के लिए बोलना चाहिए। वह शब्द—और केवल वही शब्द उस स्थिति का वाहक बन सकता है। अतः मूलतः भाषा की सरलता या कठिनता का प्रश्न कोई प्रश्न ही नही है। प्रत्येक रचनाकार को अपने कथ्य और पात्रों के अनुरूप अपनी भाषा का सृजन करना पड़ता है। यदि हम ध्यान से देखें तो हमें सहज

१ भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नयी भूमिका . रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : आलोचना : वर्ष १७, अंक-२ पृ० ६७

2. The Theatre of Absurd : The Hindustan Times : November 2, 1969.

3. The Life of the Drama : E. Bently p. 79

4. World Drama : A. Nicoll : p 924.

ही ज्ञात हो जाएगा कि वास्तव मे यथार्थवादी और अतियथार्थवादी नाटको की
भाषा भी यथार्थ जीवन और दैनिक व्यवहार की भाषा नही है यद्यपि वह उसका
अत्यन्त गहन भ्रम उत्पन्न करती है । नाटककार इस सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत बोल-
चाल की भाषा रूपी इस 'कच्चे माल' मे से शब्द, शब्दो की लय, उनका उच्चारण
और प्रयोग ग्रहण करके स्वय उसे नाटकीय रूप देकर यह निश्चित करता है कि कौन
सी बात कौन से पात्र से कब, किस प्रकार और कितनी बुलवाएगा; क्योकि नाटक मे
कोई पात्र कितनी देर तक बोलता है यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना यह
देखना कि वह क्या बोलता है ? निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि नाटकीय संवादो
की सृष्टि—लिखने की अपेक्षा सम्पादन पर अधिक निर्भर करती है । किसी भी
साहित्यिक विधा मे पात्रो द्वारा की जाने वाली परस्पर बातचीत कथोपकथन कहलाती
है परन्तु नाटक मे होने वाली यह बातचीत क्योकि मात्र कथन उपकथन ही नही होती,
प्रत्यक्षत: वक्ताओ के चरित्र को उद्घाटित करती हुई नाटक के कार्य को प्रतिपल
अग्रसर करती चलती है, अत. सवाद कहलाती है । नाटकीय सवादो के शब्द केवल
शब्द नही होते वे ऐसे सशक्त प्रतीक होते हैं जो स्पष्ट, शुद्ध और प्रभावपूर्ण उच्चारण
के साथ ही दर्शक के सम्मुख दृश्य-बिम्बो का रूप धारण कर लेते हैं । श्रेष्ठ नाट्य-
कृति मे शब्द स्थिति का पर्याय बन जाता है, उस समय दर्शक उस शब्द या सवा
को केवल सुनता नही, साकार वह स्थिति उसके समक्ष मूर्तिमान हो उठती है
नाटककार के लिए प्रत्येक शब्द का, वाक्याश का, वाक्य का सृजन एक कला
का सृजन है । सार्त्र के शब्दो मे, ' One might think that he is co
posing a sentence, but this is only what it appears -
be. He is creating an object".*

अभिनय की दृष्टि से देखे तो ज्ञात होता है कि अभिनेता अपने चरित्र के सवादो
के प्रति अत्यन्त सवेदनशील होता है । अभिनेता की दृष्टि से संवाद के सबसे बड़े
दुर्गुण उसकी निर्वैयक्तिकता तथा सवेगहीनता है । सुष्ठु, सजीव, स्वाभाविक, क्रिया-
सापेक्ष, सार्थक, प्रसगोचित, सक्षिप्त, पात्रो की आयु, पद वर्ग व मन स्थिति के
अनुरूप, कथा को स्पष्ट करने वाले होने चाहिए ।

चरित्राकन मे नाटकीय सवादो का उपयोग नाटककार मुख्यत दो प्रकार से
करता है । प्रथम तो यह अन्य पात्रो से वार्तालाप के अन्तर्गत किसी चरित्र विशेष
द्वारा बोले गए सवादो द्वारा उसके चरित्र की प्रत्यक्ष अभिव्यजना करता है और
द्वितीय इस चरित्राकन के लिए यह अन्य पात्रो द्वारा उस चरित्र विशेष के विषय मे
गई विभिन्न उक्तियो का उपयोग करता है । परन्तु दर्शक-पाठक समीक्षक को

• धर्मवीर भारती, नटरग : अंक-१ वर्ष-१, पृ २१.

What is Literature : Sartre : p 8

इस सन्दर्भ में यह सदैव ध्यान रखना चाहिए वक्ता कौन है, जिस चरित्र के विषय में वह बात कर रहा है उससे उसका क्या और कैसा सम्बन्ध एवं सम्पर्क है, वह वक्तव्य किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य से दिया गया है तथा किस सीमा तक तथ्य परक है और कहाँ तक उसमें वक्ता की अपनी भावनाओं का रंग मिला हुआ है। चरित्र के विषय में अन्तिम निर्णय इन वक्तव्यों और चरित्र के कार्यों में संगति बैठाकर ही दिया जा सकता है। इन दोनों (कथन और कार्य) की असंगति या विसंगति ही हास्य और व्यंग का मूलाधार है। केवल बातें और इन्तज़ार करने वाले इन दो पात्रों का चरित्र बैकेट ने कितने सुन्दर रूप में, इसी हथियार के उपयोग से, उभारा है—

व्लादिमीर अच्छा ? क्या हम चलें ?

एस्ट्रागा : हाँ, हम चलें (और दोनों कहीं नहीं जाते)[1]

नाटक में हम किसी भी गुणावगुण के कथन मात्र से सतुष्ट नहीं होते क्योंकि स्वयं उस बात को अपनी आखों से देखे बिना हम उस पर विश्वास नहीं करते। रंगमंच पर पात्र हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं, वे वहां जो कुछ और जिस रूप में भी हैं, हमारे लिए उतने ही और वही हैं, हम उन्हें वह नहीं समझ सकते जैसा कि नाटककार कहता है (स्वयं पात्र अथवा उसके साथियों के मुँह से कहलवाकर) कि हम उन्हें समझें। जीवन में अनुमान और शब्द प्रमाण भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं परन्तु नाटक में प्रत्यक्ष से बड़ा कोई प्रमाण नहीं होता। कभी-कभी रंगमंच पर मौन का सांकेतिक और सार्थक प्रयोग लम्बे-लम्बे संवादों से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावपूर्ण होता है। इस मौन से नाटक का दृश्य भी प्रारम्भ किया जा सकता है और किसी विशेष क्षण पर मौन का विधान करके, संवाद रोककर या संवाद के बदले केवल अभिनेताओं की विशेष मुखाकृति और उनकी चेष्टाओं से ही बहुत सा अर्थ व्यक्त कराया जा सकता है। इसका दर्शकों पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि मौन से उनके मन में तत्काल एक तनाव उपस्थित हो जाता है और उनके मन में कौतूहल जागरित हो जाता है कि आगे क्या होने वाला है ?[2] नाटककार शब्दों वाक्यों अथवा संवादों के बीच ठहराव, क्षणिक मौन या अन्तराल का प्रयोग भी प्रायः करता है। परन्तु बैंटले के अनुसार —

'Pauses can only occur when they are equivalent to dialogue, when their silence is more eloqurnt and packed with meaning than words would be."[3]

1 . Waiting for Godot : Beckett.

२. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच पं० सीताराम चतुर्वेदी , पृ० ३७

3. The life of Drama : p:99

स्वगत : संवाद के विभिन्न रूपों में से स्वगत-कथन सर्वप्रमुख है। ये अत्यन्त अयथार्थ और अस्वाभाविक होने के बावजूद पूर्व और पश्चिम के समस्त नाटक-साहित्य में एक रूढि और परम्परा के रूप में अब तक किसी न किसी रूप में बना हुआ है। उन्नीसवीं शती में इब्सन ने सर्वप्रथम इसे पूर्णतया छोड़ने का साहस दिखाया। वास्तव में यह रूढि समस्या-प्रधान यथार्थवादी नाटकों के नितान्त प्रतिकूल है भी। परन्तु यह भी सत्य है कि चाहे यह अस्त्र कितना भी भौंडा और खुरदरा क्यों न हो नाटककार के लिए जटिल चरित्रों के चित्रण की अनेक स्थितियों में एक अनिवार्यता बन जाता है। पात्र के अन्तःकरण की अछूती भावनाओं को प्रकट करने का एकमात्र साधन है। यह कष्टपीड़ित नायक को अपने मन का बोझ हल्का करने का अवसर देता है; उसके अन्तर के गवाक्ष खोल देता है और दर्शक को वह आनन्द प्रदान करता है जो और किसी तरह उसे नहीं मिल सकता।

नाटककार के लिए चरित्र-चित्रण का यह कितना महत्वपूर्ण और अपरिहार्य साधन क्यों न हो दर्शक के लिए यह अवश्य ही अस्वाभाविक और अरुचिपूर्ण है कि कोई पात्र रंगमंच पर अकेला खड़ा देर तक बोलता रहे अथवा अन्य पात्रों के सामने भी बोले तो जरा सा मुंह फेरने मात्र से दर्शकों की अन्तिम पंक्ति को सुनाई देने वाली बात मंच पर खड़े अन्य पात्रों के लिए 'अश्राव्य' या 'नियतश्राव्य' हो जाए। यह सत्य है कि भावनाओं और उद्वेगों के उच्छलन के समय अथवा गम्भीर चिन्तन की स्थिति में कभी-कभी व्यक्ति अपने आप से भी बात करने लगता है। परन्तु यह अपने आप से की गई बात अस्वाभाविक और अयथार्थ तब हो जाती है जब वह लम्बे भाषण का रूप ले लेती है या जब नाटककार उसे एक मुखर चिन्तन के रूप में प्रदर्शित करता है और नाटक का कोई अन्य पात्र उसे साधारण संवाद की भांति सुन कर उस पर बात करने लगता है। विश्व के श्रेष्ठ नाटककारों ने भी चरित्र-चित्रण करने वाले और कथानक के तथ्य बताने वाले स्वगत-कथनों में प्रायः अन्तर नहीं किया है, यह खेद की बात है। सिद्धांततः जो सूचना साधारण संवाद द्वारा दी जा सकती है उसे किसी भी दशा में स्वगत-कथन द्वारा नहीं दिया जाना चाहिए। स्वगत-कथन के महान समर्थक थी जोन्स भी यह स्वीकार करते हैं कि अन्ततः यह साधन अत्यन्त 'बालोचित' है और इसका प्रयोग अत्यधिक आवश्यक होने पर तथा कभी-कभी ही किया जाना चाहिए।[1]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि स्वगत-कथन के सम्बन्ध में इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए :—

(क) स्वगत-कथन लम्बे न हों और उचित स्थिति में रखे जाएं।

(ख) जहां साधारण संवाद से काम चल जाए, स्वगत का प्रयोग बिल्कुल न किया जाए।

1. An Introduction to the Study of Literature : p. 197

(ग) इसे मुखर-चिन्तन का रूप दिया जाए और कोई भी अन्य पात्र इसे न सुन सके।

(घ) इसका प्रयोग केवल चरित्र-चित्रण के लिए किया जाए, कथानक के तथ्यों की सूचना देने के लिए नहीं।

अन्ततः हम प्रोफेसर ब्रैडले के शब्दों से एक सीमा तक सहमत होते हुए कह सकते हैं 'स्वगत अथवा पद्य के प्रयोग का तिरस्कार इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि वह अस्वाभाविक है। नाटक की कोई भी भाषा स्वाभाविक नहीं होती।'[1]

नाटकीय चरित्र-चित्रण के लिए आवश्यक है कि चाहे वह किसी भी माध्यम से और किसी प्रकार किया जाए उसमें संक्षिप्तता तथा एकाग्रता के गुण अवश्य होने चाहिए। इनके अतिरिक्त नाटककार को चाहिए कि वह नाटकीय मितव्ययिता और आवश्यक-निर्वैयक्तिकता (Impersonality) का भी ध्यान रखे। श्रेष्ठ चरित्र-चित्रण का यह एक आवश्यक गुण है कि उसे नाटक के कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाना चाहिए। मात्र चरित्र-चित्रण के लिए किया गया चरित्र-चित्रण नाटकीय दृष्टि से उपयोगी नहीं होता। अतः श्रेष्ठ चरित्रांकन का तीव्र, संक्षिप्त और एकाग्र होना आवश्यक है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि वास्तविक व्यक्ति का नाटकीय चरित्र बनना और नाटकी चरित्र का वास्तविक व्यक्ति रूप धारण कर लेना ही चरित्रांकन का चमत्कार है।

चरित्र-विकास

चरित्र विकास का अर्थ है कि कोई पात्र नाटक की विभिन्न परिस्थितियों में क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ किस प्रकार आगे बढ़ता है और उसके इस 'आगे बढ़ने' का चित्रण नाटककार ने कितना तार्किक, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक किया है? *मानसिक अथवा बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष में ही चरित्र का* विकास होता है। पात्र चाहे परिस्थितियों का निर्माण करे चाहे वह स्वयं परिस्थितियों से निर्मित हो—दोनों स्थितियों में ही चरित्र का विकास देखा जा सकता है।

चरित्र विकास की दो शैलियां हैं—

(क) विकास (Development) शैली, और

(ख) विन्यास या उद्घाटन (Exposition) शैली।

विकास शैली के सहारे चरित्र धीरे-धीरे विकसित होता हुआ चरम परिणति पर पहुंचता है और अन्त में गांठ सी खुल जाती है। विन्यास शैली विकास के क्रम से सर्वथाच्युत होती है, उसमें केवल भावों, विचारों तथा घटनाओं के परत खुलते चले जाते हैं। विकास शैली हमारी जिज्ञासा की संतुष्टि करती है। विन्यास शैली हमारे परितोष का कोई साधन नहीं ढूंढती। बहुधा इसमें जिज्ञासा मध्य में ही अटक जाती है और यही उसकी सफलता का लक्षण है। विन्यास शैली मनोविश्लेषण-पद्धति पर आधारित है।

१. नाटक साहित्य का अध्ययन : ब्रैडले मैथ्यूज, पृ० ७६

पात्र का [illegible]-चरित नहीं लिखता। वह उसके चरित्र की तीव्रता और स्पष्टता से उद्घाटित करने वाली कुछ विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटनाओं का चयन करता है। नाटककार चरित्रों के जीवन के कुछ टुकड़े उपस्थित करता है। अभिनेता को उन टुकड़ों के माध्यम से ही सम्पूर्ण चरित्र की अनुभूति और अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इसके लिए नाटककार को जीवन के उन टुकड़ों का चयन करते समय तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक विकास और तर्कसंगत रूप से सर्जन के साथ-साथ अभिनेता की क्षमता और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि नाटककार अपने नाटक को मनमाने और कृत्रिम ढंग से एक के बाद दूसरी परिस्थिति में डालता चलता है जिसे मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत रूप से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता तो वह अभिनेता के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी कर देता है।[2]

इसी सदर्भ में चरित्र-परिवर्तन की समस्या पर भी विचार कर लेना उचित होगा। भारतीय नाट्य-शास्त्र चरित्र परिवर्तन को 'निन्दनीय धर्म' मानता है। निःसन्देह चरित्र-चित्रण में एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है परन्तु चरित्र में एकरूपता रखना उसे सपाट और अनाटकीय बना देना होगा। अपने यथार्थ जीवन में भी हम प्रायः देखते है कि एक डाकू धर्मात्मा बन जाता है और एक साधु हत्यारा। बड़े से बड़ा परिवर्तन मनुष्य के चरित्र में सम्भव है परन्तु नाटककार का यह कर्त्तव्य है कि वह इस परिवर्तन को ग्राह्य बनाने के लिए पात्र की प्रकृति में उसके मूल-संस्कारों का नियोजन भली भाँति करे जिससे कार्य-कारण नियम के अनुसार यह परिवर्तन दर्शक को अस्वाभाविक और आकस्मिक प्रतीत न हो। जटिल चरित्रों में तो इस प्रकार के परिवर्तन की अनन्त सम्भावनाएं विद्यमान होती है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के अनुसार 'कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल, बुद्धि और भावों का विकास न हो तो वह असफल चरित्र है।'[3]

1. Aspects of the Novel p. 64.
2. रंगमंच : एक माध्यम · कुंवर जी अग्रवाल (आलोचना, त्रैमासिक, जुलाई १९६४ पृ० ८२)
३. कुछ विचार . . पृ० ५५

यह चरित्र-परिवर्तन तार्किक, न्याय-संगत और स्वाभाविक होना चाहिए; परन्तु एब्सर्ड नाटकों के रचयिताओं की मान्यता है कि चरित्र की कोई भी क्रिया आकस्मिक रूप से हो सकती है। उसका भविष्य या भाग्य बिना किसी चेतावनी के बदल सकता है और नाटककार इसका कारण और उद्देश्य रहस्यमय ढंग से गुप्त रख सकता है। हेरोल्ड पिन्टर के अनुसार मंच पर अपने पूर्व-अनुभव, वर्तमान व्यवहार अथवा अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए संतोषजनक स्पष्टीकरण न देने वाला अथवा अपने उद्देश्यों का तर्कसम्मत विश्लेषण प्रस्तुत न करने वाला चरित्र भी उतना ही विधि सम्मत और ध्यान देने योग्य है जितना कि वह जो कि घोषित रूप से ऐसा करता है।[1]

अभिनय की दृष्टि से प्रत्येक चरित्र की रूपरेखा और उसके विकास की प्रत्येक अवस्था में उसकी मानसिक स्थितियों का चित्र अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिए। विभिन्न चरित्रों के बीच का विरोध उभरा हुआ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त चरित्रों में निहित द्वन्द्व या संघर्ष का विकास शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित होना चाहिए।

अध्याय २

हिन्दी-नाटक और चरित्र सृष्टि : एक विकास यात्रा

पारसी रंगमंच

सिद्धांततः इस अध्ययन के तीन सोपान होने चाहिएं—भारतेन्दु, प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र। पारसी नाटक और रंगमंच—बीसवीं शती के सर्वाधिक सफल रंगमंच - को एक स्वर से भौंडा, सस्ता, अकलात्मक और हिन्दी के पुष्ट नाट्य-साहित्य के सम्यक् विकास में अनुल्लंघनीय बाधा"[1] के रूप में ही स्वीकारा और उपेक्षित किया जाता रहा है। निस्सन्देह पारसी रंगमंच अपने विषय और रस दोनों दृष्टियों से मनोरंजन और पलायन का रंगमंच ही था परन्तु इस तथ्य से भी आंखें नहीं बचाई जा सकती कि यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। उस समय जब एक ओर हम क्रमशः सीधे पश्चिम के सम्पर्क में आ रहे थे और दूसरी ओर हम में राष्ट्रीय चेतना, प्राचीन इतिहास-पुराण के गौरव की भावना तीव्र हो रही थी, धर्मनिष्ठ हिन्दू जनता को, जो आर्य समाजी और अन्य सुधारवादी आन्दोलनों के कारण घर से बाहर आई थी, अपने गौरवपूर्ण चरित्र और महान् आख्यान देखना रुचिकर लगता था। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, कानपुर आदि नगरों में जहां गावों-कस्बों से मजदूर, मिस्त्री और बाबू लोग आए थे, उनके मनोरंजन के लिए किसी ऐसी ही चीज की आवश्यकता थी जो लौकिक शृङ्गारिक भी हो, साथ ही मन बहलाने वाली या उपदेश देने वाली भी। इसके अतिरिक्त नाटक के दर्शक वर्ग का निर्माण, नाटक और मंच की एकता, नाटक में जन-रुचि के महत्व का स्वीकार,[2] अंग्रेजी (विक्टोरिया), संस्कृत और लोक नाट्य की विभिन्न धाराओं का समन्वय आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनके लिए हिन्दी नाटक को पारसी रंगमंच का ऋण

१. भारतेन्दु युगीन नाटक—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ;
भारतीय नाट्य-साहित्य : सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृ० २६५

२. इसमें हिन्दुस्तानी स्वभाव और हर सतह के लोगों की रुचि का ध्यान रखा गया था। (हबीब तनवीर) ; नटरंग- वर्ष १, अंक-६, पृ० ११

स्वीकार करना चाहिए। फिर भारतेन्दु और प्रसाद (जिन्होंने कि इस रंगमंच की भी कटु आलोचना (निन्दा) की और हिन्दी के साहित्यिक नाटकों का सृजन किया) के नाटकों में भी इस रंगमंच का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः यह मानते हुए भी कि ये सभी नाटक साहित्यिक सुरुचि से अछूते, चरित्र-वैशिष्ट्यहीन, केवल कथाओं के जमघट मात्र होते थे,[1] हम इस ऐतिहासिक विवेचन को इसी बिन्दु से आरम्भ कर रहे हैं।

पारसी रंगमंच के नाटककारों में माधव-शुक्ल, आगा हश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब', सैयद मेहदी, 'हसन अहसान', हरिदास माणिक, मोहम्मद मियां 'रौनक,' हुसैन मिया 'जरीफ' मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' आदि प्रमुख हैं। ये प्रायः अपने नाटकों के नाम उर्दू में रखते थे परन्तु ये नाटक अधिकतर हिन्दी भाषा में हैं जिसे वास्तव में खिचड़ी-भाषा कहना अधिक उचित है।[2] इन नाटकों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है—अतिरंजना। चरित्र-चित्रण और भाषा से लेकर अभिनय और दृश्य-योजना तक इस विशेषता को अलग से पहचाना जा सकता है। इन नाटकों के चरित्रों और संवादों में एक बनावटी शान और गूंज-गरज पाई जाती है। अपनी आवाज दर्शकों की अंतिम पंक्ति तक पहुँचाने के लिए अभिनेताओं को प्रायः चिल्लाना पड़ता था।

ये 'नाटक-लेखक' पुराण-इतिहास के मूल कथा-प्रसंग को, बिलकुल ज्यों का त्यों, बिना किसी हेर फेर के रखते थे ताकि दर्शक समाज की भावना को किसी प्रकार की ठेस न लगे ; पुराण-इतिहास के चरित्रों के भी उसी स्वरूप को नाटक में ज्यों का त्यों बनाए रखते थे, जो पहले से, बल्कि परम्परा और विश्वास से, दर्शक के मन में विद्यमान है। यही स्थिति प्रसिद्ध दंत कथाओं और अफ़सानों के चरित्रों की है। कथा और चरित्र-विधान की मौलिकता इन लेखकों ने उपकथा और कामिक-सीन या हास्य-प्रसंगों में प्रयुक्त सामग्री में दिखाई है। जैसा कि बेताब ने 'महाभारत' नाटक में चेता चमार और सती गोपी की उपकथा और चरित्र के अन्तर्गत किया है। राधेश्याम ने 'वीर अभिमन्यु' नाटक में राजा और सुन्दरी की उपकथा और चरित्र विधान में अपनी मौलिकता और कल्पना की उड़ान प्रकट की है।

इन नाटकों में चरित्रांकन-स्वाभाविकता की अपेक्षा 'विस्मय-आश्चर्य' के स्तर पर ही अधिक होता है। हम चरित्रों के भीतरी रूप को उन्हीं के मुँह से सुनते हैं और उनके कार्यों द्वारा उन्हें देखते भी हैं परन्तु उन्हें हम उतना अनुभव नहीं कर पाते।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र, पृ० ३

२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : डा० सोमनाथ गुप्त : पृ० १०२

प्रस्तुत, इनके मंचन [illegible] रूप में एक तीव्र अतिनाटकीयता (हाई मैलोड्रामा) थी और चरित्र-चित्रण में '[illegible]' एक [illegible] महत्त्वपूर्ण साधन था। पात्रों के प्रवेश प्रस्थान पर इन नाटकों में विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। इन नाटक-लेखकों ने प्रायः नायक और नायिका को एक विशेष नाट्य-परिस्थिति में प्रवेश कराया है जो आश्चर्यजनक भी रहे और चमत्कारपूर्ण भी. प्रवेश के लिए पहले से समुचित भूमिका विशेषकर ऐसा वातावरण बनाया गया है कि पात्र का अचानक आना अत्यन्त नाटकीय प्रतीत हो. पात्र जिस मनोभाव में आ रहा है उसके ठीक विपरीत परिवेश हो ताकि उसके मनोभाव में और भी तीव्रता और अतिनाटकीयता आ सके। जैसे, आगा हश्र के नाटक 'रुस्तम सोहराब' के पहले बाब के दूसरे सीन में जहां शाहे समनगान के दरबार में बनीजों का रक्स चल रहा होता है और इसके बाद जब वजीर अदब से बादशाह के रूबरू और साकी उमराए़दरबार के सामने जामे-शराब पेश करते हैं, ठीक उसी वक्त रुस्तम गुस्से और जोश में दाखिल होता है। इसी प्रकार, प्रस्थान की दृष्टि से इस बात का ध्यान रखा गया है कि पात्र दृश्य में अपनी पूरी बात कहकर और प्रभाव की चरम सीमा पर तथा जिस मनोभाव में प्रवेश हुआ था उसके ठीक विपरीत मनोदशा में पहुँचकर प्रस्थान करे। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन नाटकों में स्त्री-पात्रों का अभिनय कम उम्र के लड़के करते थे।

सवाद और उनकी भाषा का अभिन्न सम्बन्ध चरित्रों के स्वरूप से होता है इन अतिरंजनापूर्ण चरित्रों की भाषा भी अतिरंजनापूर्ण और अलंकृत है। सवाद की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि शब्दाडम्बर और अति-आवेश पर सम्पूर्ण सवाद विधान टिका होने के कारण इसमें जो कवित्व या शायरी होती थी, वह अपने रंग मच की प्रकृति के अनुकूल एक ओर अलंकरण-प्रधान होती थी, दूसरी ओर व्यापार मूलक सवाद को हाथ-पैर चालन से और रग-व्यापार से जोडने वाली होती थी। इन सवादों में भाषण, उपदेश, शायरी, कवित्व, सवाल-जवाब, चुटकुलेबाजी हाजिर-जवाबी, बातचीत, आकाशवाणी, जनान्तिक, सम्भाषण आदि न जाने कित प्रकार के सवादों के दर्शन होते हैं। अभिनय की दृष्टि से सवाद बोलने की अने रूढ़ियां बन गई थी।

पात्र-वर्गीकरण की दृष्टि से प्राय सभी नाटकों में एक आयामी वर्ग-पात्रों क ही भरमार दिखाई देती है। सज्जन और दुर्जन दोनों के चरित्र अन्तिम सीमा त

---

१. पारसी नाटक का रचना विधान : नटरंग ' वर्ष ३ अंक ९ पृ०१६

पहुँचे हुए होते हैं। हर पात्र अपने वर्ग का चरम विकास प्रस्तुत करता है। सत् और असत् का संघर्ष इन नाटकों की विशेषता है। यह संघर्ष प्रायः इतना बना हुआ है कि दर्शक सांस रोक कर अनेक घटनाएं देखता है।[1]

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं। भारतेन्दु का मानस तंत्र और प्रतिभा रडार यंत्र की ही भांति संवेदनशील तथा जटिल थी और अपने परिवेश के सूक्ष्मतम सार्थक तत्वों को सहज ही ग्रहण कर अपने ढंग से प्रक्षेपित करती थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की समस्त रचनाओं, अपने समय के प्रचलित सभी नाट्य-रूपों से, अपनी रचनाशीलता के अनुकूल सार्थक तत्वों का संकलन कर, युग-धर्म और जन रुचि को पहचान कर, हिन्दी के लिए अपना रंग-विधान खोजने की कोशिश की।[2] और भारतेन्दु का महत्व मौलिक नाटकों के रचयिता, विभिन्न भाषाओं के नाट्य साहित्य के अनुवादक, अभिनेता और निर्देशक तथा नाट्य-कला सम्बन्धी सिद्धांतों के विवेचन एवं समकालीन नाटकों के आलोचक—सभी दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। 'ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद नाट्य-रचना की दृष्टि से हिन्दी में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष में उन्नीसवीं शताब्दी ही उल्लेखनीय है। अवध-दरबार में 'अमानत' द्वारा लिखित 'इन्दर सभा' (१८५३) से हम कभी भी यह निर्णय नहीं ले सकते कि मुसलमान नाटक-प्रेमी थे।[1] नि.सन्देह, भारतेन्दु से पूर्व कुछ ऐसे नाटकों का उल्लेख मिलता है, जो या तो संस्कृत नाटकों के अनुवाद थे, या उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव था। इन नाटकों में हृदयराम का 'हनुमान नाटक' यशवन्त सिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय' रघुराम नागर का 'सभा सार' निवाज कवि कृत 'शकुन्तला', महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' हरिराम का 'राम जानकी नाटक', ब्रजवासी दास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' तथा गिरधर कृत 'नहुष' नाटक हैं। 'परन्तु इन कृतियों में नाटकीय तत्वों का समावेश नहीं मिलता, अतः हम इनके

---

१. हिन्दी-नाटककार : जयनाथ 'नलिन', पृ० २५६

२. काशी का रंग परिवेश और भारतेन्दु : कुँवरजी अग्रवाल : नटरंग : वर्ष-३, अंक-९, पृ० ४५.

३. मध्यकाल में 'समयसार नाटक' (कवि बनारसी दास), 'सभासार नाटक' (रघु-राम नागर रचित), 'विचित्र नाटक' (गुरु गोविन्द सिंह रचित) 'गोविन्द हुलास नाटक' आदि रचनायें मिलती हैं। एक तो ये ब्रज-भाषा में हैं दूसरे (गोविन्द हुलास को छोड़कर) इन सभी रचनाओं में 'नाटक' शब्द उपलक्षण मात्र है, वस्तुतः ये नाटक नहीं हैं।

भारतेन्दु के नाटकों की चरित्र-सृष्टि पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि हम उनके नाट्य सृजन के उद्देश्य को जान लें । उनके अनुसार, 'नाटक पढ़ने व देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्य हरिश्चन्द्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देश-स्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है । इस मर्यादा की रक्षा हेतु वर्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलम्बन करके नाटक लिखना योग्य है । यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए ।'

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु अपने नाटकों द्वारा किसी 'कला-सृष्टि' को जन्म नहीं दे रहे थे, वह तो अपने नाटकों से देश में नव-जागरण का सन्देश देना चाहते थे । अतः उनके नाटकों के पात्र अपने आप में स्वतन्त्र सृष्टि न होकर उनके उद्देश्य के सन्देश-वाहक मात्र हैं । डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह कथन सत्य ही है कि —'बहुत-कुछ हद तक आर्य समाज आन्दोलन भी हिन्दी नाटकों के लिए घातक सिद्ध हुआ । आर्य समाज ने अनेक विषय सुझाए, इसमें कोई सन्देह नहीं । किन्तु आर्य समाज की प्रचार-शैली और शास्त्रार्थ-शैली से नाटकों की कलात्मकता को क्षति पहुंची । अनेक रचनाओं में ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं लेखक विविध पात्रों के रूप में आर्य-समाज के प्लेटफार्म से बोल रहा हो ।'

'आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है[४]—भारतेन्दु की इस धारणा ने सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से देश का कितना भी कल्याण क्यों न किया हो, नाट्य-कला का तो अहित ही किया है । नवीन युग के आलोक में कथानक, घटना, कार्य के स्तर से तो भारतेन्दु ने परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की[६] परन्तु नाटकीय चरित्र के

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य-प्रभाव डा० श्रीपति त्रिपाठी, पृ० ५७

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली · पहला खंड ब्रजरत्नदास, पृ० ७४२

३. भारतेन्दु ग्रन्थावली—पहला खंड—ब्रजरत्नदास, पृ० ७४२

४ भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाटक —भारतीय नाट्य-साहित्य, पृ०२६८

५. भारतेन्दु ग्रन्थावली—पहला खंड—ब्रजरत्नदास, पृ०७४०

६. पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवधारणा सभ्यगण को जैसी हृदय-हारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती · भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ०७२२

स्तर पर वह संस्कृत नाटक और शास्त्रानुमोदित सर्वगुण सम्पन्न नायक-नायिका तथा विदूषक, विट, चेट, पीठमर्द और नर्मसखा की धारणा से आगे नहीं बढ़ सके और इनके चित्रण के लिए भी नायिकाभेद और अलंकारशास्त्र की जानकारी आवश्यक समझते रहे। चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि भारतेन्दु ने नायक-नायिका चित्रण के लिए शास्त्र का आश्रय ग्रहण किया और सामान्य अथवा निम्न श्रेणी के पात्रों के लिए लोक तथा जीवन का। भारतेन्दु के अनुसार नाटककार को चरित्र-सृष्टि के लिए 'सूक्ष्म रूप से ओत-प्रोत भाव से मानव प्रकृति की आलोचना करनी चाहिए।'[1] मानव-प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे; लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे, वरंच समय में अश्व-रक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रकृति, नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानव प्रकृति समालोचित नहीं होती।' इसके अतिरिक्त 'वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिए।'[2] और इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि पात्रों के 'वेश' और 'वाणी' पर जितना ध्यान भारतेन्दु ने दिया है उतना सम्भवतः अन्य किसी नाटककार ने नहीं दिया। उनका यह कथन उनके अपने विषय में भी बिल्कुल ठीक उतरता है कि 'प्रयवर्ती ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसे ही उसकी बात भी विचरित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मित-भाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनीभाव विडम्बना मात्र है।'[3] भारतेन्दु ने इस पात्रोचित भाषा के लिए मुसलमान पात्रों से ठेठ उर्दू बुलवाई है तो महाराष्ट्री पात्रों से मराठी।[4] कुछ पात्रों ने यत्र-तत्र अंग्रेजी के शब्द अथवा वाक्यांश भी बोले हैं।[5] भारतेन्दु सिद्धान्ततः मानते है कि 'थोड़ी सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है।'[6] तथा 'नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है।'[7] परन्तु व्यावहारिक रूप में इस नियम का पालन नहीं कर पाते। यदि ऐसा न होता तो भारतेन्दु के पात्र छ छः पृष्ठ तक भाषण देकर अन्त में 'बहुत

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—नाटक—पृ० ७३७

२. वही, पृ० ७३८

३. वही, पृ० ७३४

४. 'प्रेम जोगिनी' के चौथा गर्भांक का अधिकांश भाग मराठी में ही है।

५. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ ८७, ८९, ३३१, ४८८, ४८९, ४९० इत्यादि।

६. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ७३४

७. वही, पृ० ७३४

में भी भारतेन्दु ने परिधि को और अधिक विस्तृत कर दिया। यद्यपि नाट्य-शास्त्र में सब प्रकार के पात्रों के समावेश का विधान है परन्तु संस्कृत नाटकों की परम्परा में अधिकतर नायक उच्च घराने का रखा जाता था। इस चुनाव के मूल में आदर्शवाद की प्रेरणा थी। परन्तु भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में सब प्रकार के पात्र लिये हैं। उनमें सत्यवादी प्रजावत्सल हरिश्चन्द्र भी हैं और अंधेर नगरी के ज्ञानहीन राजा भी; उनमें त्यागी, वीर, प्रेमी सुन्दर भी हैं और पापात्मा मीर अब्दुलशरीफ सा क्रूर भी; उनमें भगवद् भक्त चन्द्रावली भी है और धनदास तथा वनितादास जैसे धूर्त भी। उनके नाटकों में मंत्री, वैद्य, पंडित, काजी, मुल्ला, भिखारिणी, व्यापारी, पंडे, गुंडे, लुच्चे, शोहदे और पान बेचने वाले भी हैं और राजनीतिक कर्मचारी भी और सबका चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल है, उपदेशप्रद भी है और यथार्थ भी।[1] इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि साधारण पात्रों का चित्रण भारतेन्दु ने यथार्थवादी ढंग से किया है, तथापि प्रमुख पात्रों का चित्रण प्रायः आदर्शवादी ही है।[2] बड़ी से बड़ी परीक्षा, भयानक दुःख, संकट और बड़े से बड़े कष्ट भी हरिश्चन्द्र के साहस और चरित्र-बल को विचलित नहीं कर पाते। इसी प्रकार विश्वामित्र भी अहंकार, क्रोध और निष्ठुरता की साकार प्रतिमा हैं। शैव्या आदर्श सती पत्नी है। अपने आदर्श पतिव्रतधर्म-पालन से उसे असह्य कष्ट और मानसिक वेदनाएं भी डिगा नहीं पातीं। इसी प्रकार 'चन्द्रावली' आदर्श प्रेमिका है तो 'नील-देवी' क्षत्राणी-सहधर्मिणी। ये सभी पात्र विभिन्न परिस्थितियों में इस प्रकार अविचलित और दृढ़ बने रहते हैं मानो मानवीय-मिट्टी' से निर्मित ही न हों। इसके साथ यह बात भी महत्वपूर्ण है कि भारतेन्दु के नाटकों के पात्र इतने अधिक वर्ग-पात्र हैं कि नाटककार ने उनके व्यक्ति-नाम तक नहीं दिये हैं उदाहरणार्थ --'**भारत दुर्दशा**' के योगी, बंगाली, महाराष्ट्री, एडिटर, कवि, देशी महाशय, 'प्रेम-जोगिनी' के गुजराती दलाल, दूकानदार, मिठाई वाला, खिलौने वाला, कुली, चपरासी, एक विदेशी पंडित, '**वैदिक हिंसा हिंसा न भवति**' के राजा, मन्त्री, चोबदार, बंगाली, विदूषक, वेदान्ती, शैव, वैष्णव, दूत तथा '**नीलदेवी**' के काजी, मुसाहिब, सर्दार, राजपूत, भठियारी '**अंधेरी नगरी**' के महंतजी, कबाबवाला, नरंगीवाला, हलवाई, कुंजड़िन, मुगल, पाचक वाला, मछलीवाला, जातवाला, (ब्राह्मण), बनिया, राजा, मंत्री, नौकर, फर्यादी,

१. वही, पृ० ३३७ से ३४४ तक (प्रेम जोगिनी में सुधाकर का सम्भाषण)

२. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास : डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० ५०-५१

३. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० वेदपाल खन्ना पृ० ४६

कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गडेरिया, कोतवाल, प्यादे, सिपाही आदि। यह सभी पात्र नाटकों के अन्त तक पात्र ही बने रहते हैं और नाटककार इनमें चरित्र अथवा निजत्व भरने की कोई कोशिश नहीं करता। परन्तु नाटकीय-प्रभाव और उद्देश्य की पूर्ति के साधन रूप में नाटककार ने कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर उपयोग किया है। उदाहरणार्थ 'अंधेर-नगरी' के द्वितीय अंक में भारतेन्दु ने विविध-पात्रों का प्रयोग 'अंधेर-नगरी' का एक गतिशील चित्र प्रस्तुत करने के लिए फिल्म के लघु-द्रुत-चित्रों की भांति करके विशेष प्रभाव उत्पन्न किया है। इस अंक का प्रत्येक पात्र अपने कथन (संवाद नहीं) के अंत में 'टके सेर' अवश्य कहता है। अतः इसमें नाटककार ने पात्रों को वातावरण निर्माण के एक साधन के रूप में ही प्रयुक्त किया है इसी लिए किसी पात्र का चरित्र न उभर कर विभिन्न पात्रों के संयोग से 'अंधेर नगरी' का ही स्पष्ट चित्र उभरता है। पात्रों की संख्या के आधिक्य ने भी किसी पात्र के चरित्र के विकास का अवकाश नहीं दिया है। 'अंधेर-नगरी' में ही कुल मिलाकर ३३ पात्र हैं जबकि नाटक १५-१६ पृष्ठों में ही समाप्त हो जाता है। पारसी नाटकों की भांति इस युग के नाटककारों ने भी पुराण-इतिहास के पात्रों का वही स्वरूप ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है जो कि दर्शकों के मन में पहले से मौजूद था। इन पौराणिक-ऐतिहासिक कथानकों की अनिवार्यता के कारण ही नाटककार को अनेक अमानवीय-पात्रों की भी सृष्टि करनी पड़ी है जैसे—'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' के यमराज, चित्रगुप्त, दूत, 'सत्यहरिश्चन्द्र' के इन्द्र, नारद, विश्वामित्र, डाकिनीगण, बैताल, देवता, श्रीमहादेव, 'चन्द्रावली' के अप्सरागण, देवता; 'नीलदेवी' के अप्सरा, वनदेवी, वनदेवता, यमदूतगण, यम आदि। इसी श्रेणी के वे पात्र हैं जिनकी नियोजना नाटककार ने भावों का मानवीकरण कर प्रतीक पात्र के रूप में की है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' के पाप, धर्म, 'भारत-दुर्दशा' के निर्लज्जता, आलस्य, सत्यानाश (फौजदार), रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार, भारत-भाग्य और 'भारत जननी' के भारत-सरस्वती, भारत-दुर्गा, भारत जननी, भारत-लक्ष्मी, और ऐसे अनेक पात्र ऐसे ही हैं। इनमें से किसी का भी कोई व्यक्ति-चरित्र नहीं उभरता अतः इन सब को वर्ग-पात्र की श्रेणी में ही रखा जाएगा। वर्ग-पात्रों के इस बाहुल्य का एक प्रमुख कारण सम्भवतः उस समय की भाषा भी है क्योंकि जो भाषा जिस हद तक विकसित और परिष्कृत होती है, उसी के अनुरूप उसके उपयोग करने वालों की चेतना बनती है और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार—भारतेन्दु के समय में खड़ी बोली के गद्य-रूप का परिष्कार [illegible] आरम्भ हुआ। पर [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] के पूर्व तक, भाषा की प्रकृति ऐसी नहीं थी कि वह सूक्ष्म संवेदनों को व्यक्त कर सके।[1] भाषा के [illegible] [illegible] से व्यक्ति-चरित्र का [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] भी कोई [illegible] नहीं किया जा सका। [illegible]

१. भाषा और संवेदना, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० [illegible]

तेन्दु कालीन इन प्रहसनों के पात्र निम्नश्रेणी के हैं। अधिकतर हमें कोई बुड्ढा, शिशु-वर, वेश्या, कुटनियां, चरित्रहीन स्त्रियां, नशेबाज, मोटा महाजन, मसखरा और बातपटु नौकर, ओझा आदि ही मिलते है। इस अशिक्षित और असंस्कृत जनसमूह में हमें किसी अधकचरे समाज-सुधारक और देश-सेवक के भी दर्शन हो जाते हैं। परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मजाक भी ऊटपटांग, भद्दे और अश्लील ढंग का है।[१] तथा इन पात्रों का अपना कोई चरित्र भी नहीं उभरता। ये तो नाटककार के शब्दों के वाहक मात्र हैं। पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान आदि पर कोई विशेष ध्यान नहीं रखा गया। काव्यात्मक संवाद, गजल, गीत आदि के नियोजन पर भी पारसी रंग-मंच का काफी प्रभाव दृष्टिगत होता है। कहीं-कहीं दर्शकों के विस्मय-बोध को जगाने के लिए आश्चर्यजनक ढंग से चरित्र-उद्‌घाटन की युक्ति भी प्रयोग में लाई गई हैं जैसे 'नीलदेवी' में बना हुआ पागल बसंत, दाढ़ी लगाकर मियां बना हुआ विष्णुशर्मा तथा गायिका के रूप में स्वयं नीलदेवी।

परन्तु भारतेन्दु के नाटकों की चरित्र-सृष्टि का एक दूसरा पक्ष भी है जिसमें '*भारतेन्दु-कालीन अधिकांश नाटककारों ने मनोविज्ञान की मिट्टी से पात्रों को गढ़ा है।*[२] डा० श्रीमति त्रिपाठी के अनुसार, 'पाश्चात्य दु:खान्त नाटकों के आधार पर भारतेन्दु-कालीन दु:खान्त नाटकों के चरित्र में मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के चित्र रखे गये हैं।[३] डा० सोमनाथ गुप्त भी मानते हैं कि भारतेन्दु के नाटकों में बाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्व की नवीन-पद्धति, अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क एवं मनोविज्ञान द्वारा सुविकसित हुई है।[४] (इसी प्रकार *डा० गोपीनाथ तिवारी* भी स्वीकार करते हैं कि 'भारतेन्दु-कालीन नाटककार ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर पात्रों का निर्माण किया है।) इस 'मनोविज्ञान' को समझाते हुए वह आगे कहते है कि 'यदि कोई पात्र परिस्थिति-विशेष में वैसा ही करता है और कहता है जैसा कि अन्य मनुष्यों को कहना या करना चाहिये तो हम कहते हैं कि पात्र मनोवैज्ञानिक है।[५] बस यही आकर डा० तिवारी के मनोविज्ञान शब्द की '*अमनोवैज्ञानिकता*' स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक साहित्य के एक पारिभाषिक शब्द 'मनोविज्ञान' को उन्होंने अत्यन्त सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। उनकी परिभाषा के अनुसार तो प्रत्येक वर्ग-पात्र मनोवैज्ञानिक पात्र बन जाएगा, जबकि वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। जैसा कि डा० गणेशदत्त गौड़ ने कहा है, 'उन्होंने (डा० तिवारी ने) चेतन मन के

१. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाटक : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, भारतीय नाट्य साहित्य, पृ० २१८
२. भारतेन्दु-कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, पृ० २६०
३. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य-प्रभाव पृ० ६०
४. हिन्दी, नाटक साहित्य का इतिहास : पृ० ५८
५. भारतेन्दु कालीन नाटक-साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी : २६०

सामान्य कार्य विधियों की ओर संकेत किया है। केवल सामान्य मानसिक प्रक्रम वाले नाटक ही मनोवैज्ञानिक नहीं होते अपितु असामान्य अज्ञात मन की गतिविधि वाले नाटक भी मनोवैज्ञानिक होते हैं। यथार्थतः देखा जाए तो अचेतन मन की असामान्य कार्यविधियों से प्रेरित नाटकों में ही आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व और मनोवस्तुता मिल सकती है, जो कि नाटकों का प्राणत्व कहलाती है।[१] डा० गणेशदत्त गौड़ 'विद्या सुन्दर' को प्रतीकात्मक नाटक (डा० दशरथ ओझा ने भी ऐसा संकेत किया है[२]) मानते हुए कहते हैं कि 'विद्या' पात्र अन्तश्चेतना का प्रतीक है। 'विमला' विद्या की सखी आदर्श है और सुलोचना अहं का प्रतीक है। 'सुन्दर' पात्र मनमोहक इदु है जो समाज की चिन्ता न करता हुआ अनियमित प्रकृत काम की तुष्टि में संलग्न है।[३] इसी प्रकार डा० गौड़ 'हीरामालिन' में 'इडियस ग्रन्थि का प्रकारान्तर' मानते हैं और 'नीलदेवी' में प्रतिशोध ग्रन्थि'। उनके अनुसार, नीलदेवी के चरित्र में क्षति-पूर्ति की प्रतिक्रिया एवं कामोन्मयन से प्रतिहिंसा के रूप में ऊर्ध्वगमन हुआ है।[३] 'नीलदेवी' के आठवें दृश्य में पागल' का चरित्र-चित्रण मनोविक्षिप्तता के लक्षणों से ओत-प्रोत है।[४] डा० रामविलास शर्मा मानते हैं कि 'प्रेम-योगिनी' में पात्रों का चित्रण एकदम यथार्थवादी है।[५] इन पंक्तियों के लेखक को इन सभी प्रमुख पात्रों की अपेक्षा जिस पात्र में चरित्र के अन्तर्गत सर्वाधिक स्पष्ट दर्शन हुए, वह है, 'नीलदेवी' के पांचवें दृश्य का अत्यन्त साधारण पात्र—सिपाही। उसका प्रस्तुत कथन दृष्टव्य है—

सिपाही— बरसों घर छूटे हुए। देखें कब हम दुष्टों का मुंह काला होता है। महाराज घर फिरकर चलें तो देस फिर से बसे। रामू की मां को देखे कितने दिन हुए। बच्चा को तो खबर तक नहीं मिली। (चौंककर ऊंचे स्वर से) कौन है ? खबरदार जो किसी ने झूठमूठ भी इधर देखने का विचार किया। (साधारण स्वर से) हां—कोई यह न जाने कि देवीसिंह इस समय जोरू-लड़कों की याद करता है। इससे भूला है। क्षत्री का लड़का है घर की याद आवे तो और प्राण छोड़कर लड़े। (पुकारकर) खबरदार जागते रहना।

इसी रूपक के 'चौथे दृश्य' में 'चपरगट्टू' और 'पीकदानअली' का चित्रण भी

१. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : पृ० १६३
२. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास : पृ० २०२
३. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन— पृ० १६४
४. वही, पृ० १६६-७०
५. वही भारतेन्दु युग —पृ०६४
६. भारतेन्दु ग्रन्थावली — पृ०५२७-२८

अत्यन्त यथार्थवादी और स्वाभाविक हुआ है।

भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके समकालीन नाटको मे प्रधान हैं—श्रीनिवासदास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी और तप्तासंवरण ; नानकचन्द कृत 'चन्द्रकला', अमनसिंह गोतिया कृत 'मदन मंजरी', जानेश्वर दयाल कृत 'मदन मंजरी', महादेव प्रसाद कृत 'चन्द्रप्रभा मनस्वी', विश्वेश्वरी प्रसाद का मिथिलेश कुमारी ; किशोरीदास गोस्वामी कृत 'प्रणयिनी-परिणय' और 'मयंक मंजरी', शालिग्राम रचित 'लावण्यवती-सुदर्शन' गोपालराम गहमरी का 'विद्या-विनोद' बाल मुकुंद पाडेय कृत 'गंगोत्री' जगन्नाथ शर्मा का 'कुन्दकली नाटक' सूर्यमान का 'रूप बसंत' देवीप्रसाद राय का चन्द्रकला—भानुकुमार'। भारतेन्दु-युग के प्रहसनों में उल्लेखनीय है—देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'जय नारसिंह की', रक्षाबन्धन, स्त्री चरित्र, एक-एक के तीन-तीन, कलयुगी जनेऊ, बैल छः टके को तथा सैकड़ों में दस-दस ; बालकृष्ण भट्ट का शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम , प्रतापनारायण मिश्र का कलिकौतुक रूपक , राधाचरण गोस्वामी का बूढ़े मुह मुहासे , किशोरीलाल गोस्वामी का चौपट चपेट, गोपालराम गहमरी का दादा और मैं तथा जैसे को तैसा आदि। इन प्रहसनो का महत्व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उतना नही है जितना उस युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चिन्ताधाराओं का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से है। कुल मिलाकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दो मे हम कह सकते हैं कि, 'भारतेन्दु के नाटक व्यापार-प्रधान न होकर भावना-प्रधान और काव्यात्मक रहे है। उनमे चरित्र की रूपरेखा स्वतन्त्र नही, रस की 'अनुवर्तिनी रही है।'[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट सकेत करते हुए कहा है कि भारतेन्दु-काल मे जिन नाटको की रचना हुई उनमे अन्त:प्रकृति के वैचित्र्य का विधान नही के बराबर है।'[2] भारतेन्दु-युग के प्राय सभी नाटककारो ने बाह्य प्रेरणा (समाज सुधार, पुनरुत्थान आदि की भावना) से प्रेरित होकर नाटक लिखे थे यही कारण है कि उनके नाटको के चरित्रों मे बाह्य विस्तार तो बहुत है परन्तु उनमे आन्तरिक भाव-बोध का अभाव है। चरित्रों की आन्तरिकता को स्पष्ट करने मे यद्यपि रग-निर्देश का विशेष उपयोग इन नाटककारो ने नही किया फिर भी भारतेन्दु ने अपने पात्रो की वेश-भूषा और उनके रूपाकार-वस्त्र-सज्जा आदि पर विशेष रूप मे ध्यान दिया है और पाद-टिप्पणियो मे निर्देश और अभिनेताओं के लिए विस्तृत-रग-निर्देश दिए हैं। नाटको की भाषा और पात्रों के संवाद चरित्र-बोध मे सहायक हैं और एकायामी पात्रों के सतही जीवन के अनुकूल । उनमे भी किसी गहराई के दर्शन नही होते ।

१. आधुनि साहित्य : पृ०३६ (भूमिका)
२. चिन्तामणि (द्वितीय भाग), पृ०२३४

प्रसाद-युग

'प्रसाद' के नाटकों का आकर्षक उपकरण उनकी बहुरंगी एवं गम्भीर चरित्र-सृष्टि है। 'ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।'[1] नि:सन्देह प्रसाद जी ने नाट्य-क्षेत्र में नाटक को नये चरित्र, नयी घटनाओं (घटनाएं), नया ऐतिहासिक देश-काल, नया आलाप-सलाप, संक्षेप में सम्पूर्ण नया समारम्भ दिया।[2] और प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि प्रसाद ने अपने नाटकों के चरित्रों में भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का अद्भुत समन्वय किया है।[3] अत: हम उनकी चरित्र-सृष्टि के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिए सर्वप्रथम चरित्र-निर्माण के इन भारतीय और पाश्चात्य तत्वों का विवेचन करेंगे जिनका समन्वय प्रसाद में हुआ है।

पाश्चात्य चरित्र-निर्माण-पद्धति में साहित्यकार की तटस्थता को सर्वाधिक महत्व दिया गया है[4] जबकि भारतीय पद्धति के अनुसार स्रष्टा स्वयं को ही अपनी सृष्टि में अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से प्रसाद ने पूर्णत: भारतीय पद्धति को अपनाया है और वह शेक्सपियर की भांति अपने पात्रों से तटस्थ नहीं रह सके हैं।[5] डा० नगेन्द्र के शब्दों में, बौद्ध और शैव दर्शनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपूतों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग में परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी-पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसाद

---

१. विचार और अनुभूति प्रसाद के नाटक डा० नगेन्द्र, पृ० ३६

२. नया साहित्य नये प्रश्न नन्ददुलारे वाजपेयी पृ० १५६

३. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृ० २८२-२८३ ; हिन्दी नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव-पृ० १२६ : हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन-पृ० १३३-१३४ हिन्दी नाटककार-पृ० ८३ हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास-३००-३०१ आधुनिक हिन्दी नाटक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन-पृ० १५४ प्रसाद के नारी-चरित्र पृ० ३६० : प्रसाद साहित्य-पृ० १०३

4. There is always a separation beteween the man who suffe[rs] and the artist who creates; and the greater the artist the grea[ter the] separation—T. S. Eliot.

५. 'प्रसाद के गम्भीर एवं भावुक व्यक्तित्व की छाप उनके अधिकांश पात्रों पर है। सुख-दुःख की धूप-छाँह में उन्होंने जीवन की जो आनन्दिकता देखी, उसके पात्रों के चरित्र में आदर्श रूप में अभिव्यक्त है। (प्रसाद के [illegible] पृ० [illegible] कर्ताराम नारायण कौशिक—पृ० ७)

जी ने सभी चरित्रों मे अपने व्यक्तित्व की सास फूक दी है। स्वभावत. उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ मे नाटकीय कहा जाता है।[1]

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्व रस का है जबकि पाश्चात्य विद्वान व्यक्ति-वैचित्र्य पर अधिक बल देते हैं। इस सम्बन्ध स्वयं प्रसाद का यह कथन उनकी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है—'भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यो को रस का साधन मानता रहा, साध्य नही। इसमे चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया।'[2] तथा 'रसवाद मे वासनात्मकतया स्थित मनोवृतिया जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है. साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का सशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रस सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता छूट जाती है ; और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते है।'[3]

प्रसाद के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सिद्धान्तत वह पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य की अपेक्षा भारतीय रसवादी-आनन्दवादी-आदर्शवादी रत के ही पोषक हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यही वह बिन्दु है जहा उनके नाटको की चरित्र-सृष्टि मे हमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तो का समन्वय मिलता है। यह अलग बात है कि इस समन्वय मे भी बल भारतीय दृष्टिकोण पर ही है। उनके नाटको के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद के सैद्धान्तिक सघर्ष मे वे अपना मार्ग ढूढ रहे है।[4] भारतीय नाटको के रस-सिद्धान्त के परिचालन मे उनके नाटक भावुकतापूर्ण तरल गीतो तथा सवादो से रस स्निग्ध हैं, तथा पाश्चात्य परम्परा के प्रभाव से उनके नाटको के चरित्र, शील-वैचित्र्य तथा अन्तर्द्वंद्व से परिवेष्टित है। इस समन्वय का ही यह परिणाम है कि प्रसाद के चरित्र मूलत आदर्शवादी वर्ग-पात्र होते हुए भी कही न कही अपना निजत्व और व्यक्तित्व बनाए रखते हैं।

प्रसाद ने ऐतिहासिक एव सास्कृतिक नाटकों की रचना की है। अत उन्होंने ऐसे चरित्र रचे है, जो ऐतिहासिक परिस्थिति को चित्रित कर सकें और साथ ही उनमें नाटकीय चरित्र बनने की क्षमता हो।[5] उनकी चरित्र-सृष्टि के मूल उद्देश्य है—

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक डा० नगेन्द्र पृ० १२
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ०८४
३. वही, पृ० ८५
४. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला . डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, पृ०१३८
५. आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ०२७८

शिवेतर का नाश, सौन्दर्य चेतना की अनुभूति तथा उसका सम्प्रेषण, जीवन-मूल्यों के प्रचार की तीव्र कामना इत्यादि। यही कारण है कि उनके नाटकों में घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्रों की विविधता और उनकी मनोभावनाओं का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है।[1] हमारे विचार से प्रसाद के नाटकों में चरित्रों की संख्या ही अधिक है[2] विविधता उतनी नहीं। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रस्तुत कथन उल्लेखनीय है - यद्यपि उनके चरित्रों में अनेक श्रेणी के लोग नहीं हैं, तथापि वे इतने सजीव हैं कि पाठक उनको नहीं भूल सकता। उनके आदर्श-पात्रों में वीरता, प्रेम और देशभक्ति आवश्यक रूप से विद्यमान रहते हैं। जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें बहुविधता नहीं आ पाई है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता पात्र-बाहुल्य है। इस पात्र बहुलता का एक कारण तो यह है कि अपने नाटकों के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक देश-काल का चित्रण करने के लिए प्रसाद जी ने पात्रों का प्रयोग किया है और दूसरा कारण यह है कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का चित्रण करने के लिए पात्रों की बहुलता आवश्यक थी। तीसरे, उनके नाटकों के कथा-फलक इतने दीर्घकाय और विस्तृत हैं कि उन्हें पात्रों के लिए अनिवार्यतः अधिक पात्रों की आवश्यकता थी।

प्रसाद के प्रायः सभी नाटक नायक (नायिका)-प्रधान हैं। अपने प्रत्येक नाटक में मुख्य-पात्र या नायक को उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक निर्माण की सूचना दी है। वे भिन्न भिन्न युगों की सांस्कृतिक स्थिति और विकास के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। प्रसाद के नाटकों में 'विशाख' को छोड़कर अन्य सभी नाटकों में नायक भाव का प्राधान्य ही है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य, गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त, जनमेजय इत्यादि सभी [illegible], मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, [illegible], वाग्मी, अभिजात, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान स्मृतिवान, उत्साही, कलावान, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक हैं, साथ ही नाटकीय कथा की शृंखला को आदि से अन्त तक जोड़ते जाते हैं। ऐसी अवस्था में ये सभी धीरोदात्त नायक माने जायेंगे।[4] इस [illegible] [illegible] [illegible] परिपाटी के समस्त ही गौतम, [illegible], प्रेमानन्द, मिहिरदेव, व्यास, [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], वेद व्यास आदि शुद्ध सात्त्विक प्रवृत्ति के पात्र भी

---

१. [illegible] पृ० [illegible]

२. [illegible] ३० पात्र, विशाख २६ पात्र, जनमेजय का नागयज्ञ, ३० पात्र, अजातशत्रु, ३१ पात्र, स्कन्दगुप्त ३६ पात्र, चन्द्रगुप्त ; ४० पात्र ; ध्रुवस्वामिनी, १३ पात्र [illegible] [illegible] (सर्वाधिक [illegible] [illegible] [illegible])।

३. [illegible] पृ० [illegible]

४. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन [illegible]

जा सकते हैं। सामान्यतः व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह चरित्र यथार्थ के स्थान पर आदर्श ही अधिक लगते हैं परन्तु 'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।' प्रसाद की धारणा स्वीकार कर लेने पर यह भ्रम नष्ट हो जाता है। इसके ठीक दूसरे छोर पर है—तामसिक वृत्तियों वाले विरुद्धक, प्रपंच बुद्धि, रामगुप्त भटार्क, शाम्भीक, तक्षक इत्यादि पात्र—जो हमारी घृणा के पात्र बनते हैं भी दुष्ट-वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन पात्रों का सृजन प्रसाद ने अपने आदर्शपूर्ण पात्रों के प्रतिपक्ष में रखने के लिए किया है। 'पवित्रता की माप है मलिनता सुख का आलोचक है दुःख पुण्य की कसौटी है पाप।' सात्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों की इस टकराव में ही पात्रों के चरित्रों का विकास होता है। कभी आलोक विजयी होता है तो कभी अन्धकार। इस प्रकार आलोक और अन्धकार का यह संघर्ष नाटक के अन्त तक चलता है परन्तु 'प्रसाद नियमतः अन्त में धर्म, न्याय और सत्य रूप प्रकाश की सर्वत्र विजय दिखाते हैं। आदर्शवादी प्रसाद को किसी भी मूल्य पर असत् की अन्तिम विजय स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। अतः उन्होंने नियमबद्ध रूप से सर्वत्र असत् पर सत् की विजय दिखाई है। दुष्ट पात्रों को या तो समाप्त कर दिया है या उनमें वांछित परिवर्तन उपस्थित किया है। अतः हम प्रसाद के आदर्श विरोधी अथवा प्रतिपक्षी पात्रों को चरित्रपरिवर्तन की दृष्टि से दो वर्गों में बांट सकते हैं एक वर्ग तो उन पात्रों का है जो संस्कार के प्रभाव से अथवा परिस्थिति की प्रेरणा से आरम्भ में आदर्श विरोधी मार्ग ग्रहण करते हैं, किन्तु घटनाओं के घातप्रतिघात से एवं आदर्श पात्रों के सम्पर्क में अन्त में वे आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करते हैं। क्योंकि 'प्रसाद' के अनुसार, 'भयानक अपराध भी क्षमा कराने का साहस मनुष्य को होता है।'[2] छलना, अजातशत्रु, श्यामा, भटार्क, विरुद्धक, सुरमा प्रसेनजित, विरुद्धक, शान्तिभिक्षु, अश्वसेन आम्भीक, शवनाग, तक्षक, नरदेव, आदि का चरित्र-विकास इसी कोटि का है। दूसरे वर्ग के आदर्श-विरोधी पात्र वे हैं जो आरम्भ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते हुए पाप और कलंक की कलुषित छाया में अपनी जीवन-लीला समाप्त

---

१. अजातशत्रु : श्यामा ३।२, पृ० ११६
इसी सम्बन्ध में मोहन राकेश का यह कथन भी उल्लेखनीय है—हमें स्वयं अपनी मानवीयता में विश्वास नहीं है, अपने यथार्थ में आस्था नहीं है क्योंकि अपने से कुछ आशा नहीं होती, इसलिए यह बात असंभव प्रतीत होती है कि मानवीय धरातल पर रहकर भी जीवन में कुछ महान किया जा सकता है। केवल उसी धरातल पर रहकर किया जा सकता है, यह तो शायद सुनने में भी बहुत भारी पड़े।

— लहरों के राजहंस (भूमिका) पृ० ८

२. अजातशत्रु : मल्लिका ३।४, पृ० १२३

बनते हैं—प्रपंचबुद्धि, शर्वनाग, विजया, नन्द, शकराज, रामगुप्त, महापिंगल, देवगुप्त आदि इसी वर्ग के पात्र हैं। आदर्शों का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही प्रसाद में इन निकृष्ट पात्रों की अवतारणा की गई है।' इस आदर्शवादी चरित्र-चित्रण का ही परिणाम है कि इन पात्रों के चरित्र या तो आकस्मिक रूप से परिवर्तित हुए हैं या उन्हें नाटककार की आज्ञा न मानने के अपराध में हत्या अथवा आत्महत्या द्वारा मंच से सदा के लिए हट जाना पड़ा है इस प्रकार प्रसाद के पात्रों में द्वन्द्व या संघर्ष की अवतारणा दो स्तरों पर हुई है

(क) सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष, जैसे—भटार्क, नवनाग, मागन्धीक, शान्तिदेव, जनमेजय आदि में, और

(ख) सत्प्रवृत्तियों का पारस्परिक अन्तर्द्वन्द्व, जैसे—चाणक्य, देवसेना आदि में (इनमें प्रेम और लोकहित का द्वन्द्व है)।

प्रसाद के नारी-चरित्र

प्रसाद के चरित्राकन की विशेष क्षमता उनके नारी चरित्रों में प्रकट हुई है। उनकी अधिकाश नारियां कल्पना-प्रसून हैं अत यहां प्रसाद की कल्पना और अनुभूति को खुला क्षेत्र मिला है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ये चरित्र मनुष्य रूप में प्रणीत मुक्तक हैं। देवसेना और कार्मेलिया ऐसे ही मुक्तक काव्य हैं। उनके जीवन में एक प्रकार का संगीत है, एक विशेष 'दर्द' है।' डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रसाद के नारी पात्रों में आपको उनके हृदय का रूपमोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी।' परन्तु यही नारी समय आने पर आग की चिनगारियां और ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान' भी हो जाती हैं। नारी के सम्बन्ध में प्रसाद जी की मान्यता है—

'स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही, एक परिवर्तन है—जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं; किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर—जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो। वे मनुष्य पर राजरानी के समान एकाधिपत्य से रख सकती हैं; तब इन्हें इस दुरभिसंधि की क्या आवश्यकता है—जो केवल सदाचार और शांति को ही शिथिल नहीं करती, किन्तु उच्छृंखलता को आश्रय देती हैं।' जब भी प्रसाद की नारी पूछती है 'क्या हम पुरुष के समान नहीं हो सकती ?'[5] प्रसाद उत्तर देते हैं' विश्वभर में सब कर्म सब के लिए नहीं उसमें कुछ विभाग है अवश्य। सूर्य अपना

१. 'प्रसाद' के नाटकीय पात्र ' प० जगदीश नारायण दीक्षित
२. साहित्य-सहचर : पृ० १२०
. आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १२
. अजातशत्रु ' ३ । ४, पृ०११८-१९
५. वही

काम जलता बलना हुआ करता है और चन्द्रमा उसी आलोक को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों मे परिवर्तन हो सकता है ?[1] प्रसाद के अनुसार कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है—जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए है। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।'[2] उनकी मान्यता है कि क्रूरता अनुकरणीय नही है, उसे नारी-जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारो मे विप्लव होगा।'[3] और प्रसाद 'सदाचारो मे विप्लव' किसी मूल्य पर स्वीकार नही करते। प्रसाद ने अपने नाटको के प्रत्येक नारी-पात्र को 'सुन्दर और मनमोहन आवरण' दिया है उनमे 'अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास' दिखाया है उनमें सतोगुण-मूलक करुणा, विनम्र प्रेम सहानुभूति, उदारता, आत्म-समर्पण, क्षमा-शीलता, वात्सल्य, उत्सर्ग आदि नारी-सुलभ गुणो की स्थापना की है (राज्यश्री, मल्लिका, वासवी, रामा, देवसेना, देवकी, कार्नेलिया, मणिमाला, वपुष्टमा, चन्द्रलेखा आदि), परन्तु यही नारी जब अपना प्रकृत रूप भूल कर ईर्ष्या और द्वेष से भुलसती-भुलसती हुई क्रूरता और झूठे अधिकारो की आधी चलाती हुई, राजनीतिक-क्षेत्र में अकाण्ड-ताण्डव करती है तो (सुरमा मागधी, विजया, मागंधी, अनन्तदेवी, दामिनी आदि) प्रसाद उसे स्वीकार नही कर पाते अतः या तो उसे अपने प्रकृत नारी रूप मे लौटना पडता है या अपने रमणीय-आवरण को ही छोडना पडता है। 'काव्यगत न्याय' का पालन करते हुए उन्होने अनिवार्यतः असत् पर सत् की विजय दिखाई है।

वर्गीकरण

प्रसाद के नारी-पात्रो को अनेक आधारो पर अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया गया है किन्तु मूलत. हम उन्हें दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है —

(क) प्रकृत नारी-पात्र—('प्रकृत' से तात्पर्य है प्रसाद के नारी-आदर्श के अनुकूल) —ये पात्र प्राय: स्थिर है और परिस्थितियो से अप्रभावित रहते है।

(ख) विकृत नारी-पात्र – इन पात्रो मे दो प्रकार की विकृत दृष्टिगत होती है—

(i) प्रणय-वंचिता नारियां, जिनके मूल मे दमित काम की कुण्ठा है, और

(ii) राजनीति की आग से खेलने वाली राजमहिषियां, जिनके मूल मे दमित अहं का विस्फोट है।

किन्तु प्रसाद के कुछ ऐसे विशिष्ट अमर नारी-चरित्र भी है, जो इन वर्गों मे बधना नही चाहते (यद्यपि इनके मूल में भी काम की ग्रन्थि ही विद्यमान है) और

१. वही
२. वही
३. वही

इतने महत्वपूर्ण है कि एक वर्ग की मांग करते है; अतः तीसरा वर्ग—

(ग) जीवन-युद्ध में प्रेमी का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानी राजपुत्रियां या अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में करुण-गंध छोड़ जाने वाली फूल सी सुकमारियों का है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद के नारी-पात्र भी सात्विक और तामसिक इन दो स्थूल वर्गों में विभाजित हैं और अन्ततः टाइप ही बन गए हैं। अतः आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी के शब्दों में पूर्णतः यह स्वीकार नहीं कर सकते कि 'उनकी नारी पुरुषों की भांति वर्गगत प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर नहीं आई। नारियों में वैसा वर्ग-निरूपण नहीं है।'[1] यद्यपि हम यह मानते हैं कि "नारी मनोविज्ञान और नारी-चित्रण के उद्‌घाटन में प्रसाद जी को पुरुष चित्रण की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है।[2] प्रसाद के नारी चरित्र उनकी सूक्ष्म कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्‌भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएं अथवा विभिन्न रंग नहीं – इनमें एक रेखा है और एक धुंधला रेसमी रंग है—एक ही स्वर है, संगीत समाप्ति की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-धूम रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—इन सबों की 'प्रतिकृति' हैं ये नारी-चरित्र। फिर भी एक सम्पूर्ण नारी-व्यक्तित्व का चित्र बनाने के लिए हमें इन दोनों वर्गों का नारियों को समन्वित करके देखना होगा।

विदूषक :—वैसे तो प्रसाद के गम्भीर और संघर्षपूर्ण नाटकों में हास्य-विनोद का अवकाश ही नहीं है फिर भी कहीं-कहीं उन्होंने अवकाश निकाल कर परिहास की सृष्टि करने का प्रयास किया है—परिणाम हैं, उनके नाटकों के विदूषक। नायक-नायिका के स्वरूप की भांति विदूषक का चरित्र और उसका निरूपण भी प्रसाद ने शास्त्रीय ढंग से किया है। उनके नाटकों में विदूषकत्व की अवतारणा दो रूपों में हुई हैं। अधिकतर तो नाटक के पात्रों को ही परिहासी और विनोदी प्रकृति का बना कर काम चला लिया गया है, जैसे—महापिंगल, विकट घोष, काश्यप इत्यादि। कहीं कहीं शुद्ध प्राचीन पद्धति के अनुसार स्वतंत्र रूप में भी विदूषकों की सृष्टि की गई है, जैसे—वसंतक और मुद्‌गल। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि इनका हास्य अत्यन्त स्थूल सा है और इनका स्वरूप शास्त्रीय। चरित्र में विकास प्रायः न के बराबर हैं। अतः इन्हें स्थिर-वर्ग पात्र की ही संज्ञा दी जा सकती है।

विश्लेषण :—उपरोक्त विवेचन में स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने अधिकांश व्यक्ति नहीं वर्ग-पात्रों की ही सृष्टि की है। परन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का

---

१. आधुनिक साहित्य : पृ० २७७.

२. आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र : पृ० १३.

यह कथन भी एक सीमा तक सत्य ही है कि प्रसाद जी के पात्र उस प्रकार के 'टाइप' नहीं हैं, जैसा कि पुराने साहित्य में राजा, रानी, ब्राह्मण, मंत्री आदि के 'टाइप' बन चुके थे। .. यद्यपि उनके पात्र पुरानी रूढ़ियों के अनुसार टिपिकल' तो नहीं है परन्तु···उनके अपने ही मन से गढ़े हुए 'टाइप' अवश्य है।'

यही मूल प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी रहस्यात्मक शक्ति है जिसके द्वारा प्रसाद वर्ग-पात्रों का निर्माण करके भी अनेक अमर, प्राणवान और व्यक्तित्व-सम्पन्न चरित्रों के सृष्टा होने का गौरव पा सके ? इसका उत्तर है स्वयं प्रसाद का दार्शनिक-कवित्वमय व्यक्तित्व। उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूपरेखा को काट छाँट कर इतना तीखा कर दिया था।

पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए प्रसाद ने चरित्रों में बाह्य संघर्ष के साथ-साथ उनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की भी सुन्दर नियोजना की है। उदाहरण के लिए—

स्कन्दगुप्त—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, केवल मेरे अस्तित्व से ? कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न हँस सकता है।'

(तृतीय अंक, द्वितीय दृश्य, पृ० ८४)

चन्द्रगुप्त—संघर्ष। युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व। कोई कमी नहीं

(चतुर्थ अंक, चौथा दृश्य)

ध्रुवस्वामिनी ओह। (हृदय पर उंगली रखकर) वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या ? जब अन्त-रंग 'हाँ' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है ?

(प्रथम अंक, पृ० ३३)

इन्हीं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के कारण कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रसाद के चरित्र संस्कृत नाटकों की भांति आदर्श और परम्परावादी न होकर शेक्सपियर के चरित्रों की भांति अपने निजी व्यक्तित्व तथा मानसिक ग्रन्थियों को लिए हुए हैं। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, भटार्क और चाणक्य के व्यक्तित्व दोहरे हैं। वे भयानक मानसिक आँधी तथा झंझावात के झकोरों में झूलते हैं।' डा० दशरथ ओझा के अनुसार 'प्रसाद' चरित्र-चित्रण में उस नवीन मत को अपनाते हैं जो नाटकीय पात्रों के चरित्र में आरोह और अवरोह के सिद्धान्त का प्रतिपादक है।' इस सम्बन्ध में हमारा विचार

१. साहित्य सहचर, पृ० १२०

२. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य-प्रभाव—श्रीपति त्रिपाठी, पृ०१४१

३. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास : पृ० ३८०

है कि उपर्युक्त दोनों बातें प्रसाद के बहुत कम चरित्रों के विषय में और वह भी केवल अपवाद रूप में ही कही जायेंगी। प्रसाद के आदर्शवादी व्यक्ति ने आदर्श पात्र का ही सृजन किया है और संसार का 'आदर्श व्यक्ति' व्यक्ति नहीं है, एक 'टाईप' है।[1] इसलिए प्रसाद के अधिकांश पात्र 'टाइप' वर्ग के ही है और उनका विकास भी अधिकांशत एक सीधी रेखा में ही हुआ है। उनमें 'आरोह और अवरोह' प्राय नहीं है। प्रसाद रोमैंटिक कवि-नाटककार थे अत उनकी रचनाओं में उनके 'स्व' अथवा 'व्यक्तित्व' की गहरी छाप मिलना स्वाभाविक ही है। नाटक के सन्दर्भ में यह छाप उनके सभी पात्रों और उनकी भाषा में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रसाद ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को अनेक प्राणवान, सशक्त और अमर चरित्र प्रदान किये है।

संवाद भाषा —जिस प्रकार हम व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति के वस्त्रों आदि से उसके चरित्र का काफी कुछ अनुमान लगा लेते हैं उसी प्रकार नाटक के पात्रों की भाषा और उनके संवादों से उनके चारित्र्य के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। प्रसाद के संवादों की अपरिवर्तनशील भाषा उनके दार्शनिक उदात्त चरित्रों के अनुकूल अत्यन्त काव्यात्मक, बिम्बात्मक, अलंकृत और तत्सम संस्कृत शब्दावली के आभिजात्य से मंडित है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार (प्रसाद के) पात्रों की बातचीत में, नाम में, हिलने-डुलने में, सर्वत्र कवित्व का सुर ही प्रबल है।[2] इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों का माध्यम गद्य ही रखा है, परन्तु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है।[3] उनकी शैली भी काव्यात्मक है तथा किसी कथन को सीधे तरह और निरलंकार रूप में कहने की शैली को प्रसाद जी ने नहीं अपनाया। डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रसाद की दर्शन कवित्वमयी शैली उनकी देन हैं। उनकी असाधारण रंगीन कल्पना और रोमांस की अमिट प्यास, इस शैली के बाह्य उपादान हैं और मूल तत्व है वही जिज्ञासा-वृत्ति।[4] संवादों में लम्बे-लम्बे स्वगत-भाषणों का प्रयोग भी प्रसाद की अपनी विशेषता है। उनकी भाषा, शैली और संवादों की इन्हीं विशेषताओं के कारण प्राय उनके नाटकों को अनभिनेय करार दिया जाता रहा है, दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में कुछ भी करने से पूर्व इस सन्दर्भ में प्रसाद जी की मान्यताओं की जानकारी पा लेना आवश्यक है। भाषा की क्लिष्टता के सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्रथम प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से

---

१. शेखर : (भाग-१) : अज्ञेय: पृ० ६३
२. साहित्य सहचर, पृ०१२०
. आधुनिक साहित्य : नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ०२७६
४. आधुनिक हिंदी-नाटक : पृ० ४

भी भयानक है।[1] हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपने सभी प्रौढ नाटकों में सभी पात्रों के लिए निरन्तर एक ही भाषा का प्रयोग किया है। उनके पात्र चाहे वे भारतीय हों चाहे विदेशी, स्त्री हों या पुरुष, शिक्षित हों या अशिक्षित, उच्च जाति के हों या निम्न श्रेणी के—शुद्ध साहित्यिक भाषा में ही बातचीत करते हैं। इस विषय में अपनी धारणा व्यक्त करते हुए प्रसाद जी कहते हैं—'एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य अगम्य पात्र है, तो उनकी जगली भाषा भी रहनी चाहिए और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जाएगा ?'[2] अपने इस तर्क को और पुष्ट करते हुए वह आगे कहते है कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा।[3] अतः स्पष्ट है कि प्रसाद पात्रानुरूप भाषा की परिवर्तनशीलता की अपेक्षा भावों और विचारों के तारतम्य पर अधिक बल देते हैं। 'स्वगत' की अस्वाभाविकता से प्रसाद पूर्णतया परिचित थे। वह जानते थे कि स्वगत आकाशभाषित इत्यादि तब (भरत के समय) भी अस्वाभाविक माना जाता था।[4] इसके अतिरिक्त विशाख नाटक में प्रसाद ने महा-पिंगल द्वारा नाटकों के स्वगत पर व्यंग्य करते हुए कहा है—'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, वह दर्शक-समाज व रंगमंच सुन लेता है, पर पास खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है।'[5] परन्तु आश्चर्य होता है यह देखकर कि स्वगत की अस्वाभाविकता पर इतना तीखा व्यंग्य करने वाला नाटककार स्वयं अपनी रचनाओं में उसका प्रयोग दोष की सीमा तक कैसे कर सका? प्रसाद का एक भी ऐसा नाटक नहीं जिसमें इसका प्रयोग न हो और प्रयोग ही नहीं

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ० १०६
२. वही : पृ० १०७
३ वही, पृ०१०७
४. ध्यातव्य है कि आकाश-भाषित का प्रयोग प्रसाद ने केवल प्रारंभिक रचनाओं—सज्जन, प्रायश्चित, विशाख—में ही किया है।
५. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ६६
६. विशाख : १।३, पृ० ३२

आत्मविभोर न हो। इतना ही नहीं वे स्वगत-भाषण भी छोटे नहीं बल्कि काफी लम्बे-लम्बे हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में इस स्वगत-रोग से सभी प्रमुख पात्र पीड़ित दिखाई पड़ते हैं। पात्रों के हृदय की भावों को इस ढंग से प्रकाशित कर देना है तो ठीक, परन्तु एकान्त में इतना अधिक बोलना अस्वाभाविक ज्ञात होता है सो भी दो एक बार नहीं बारम्बार।[1] आप भिन्न-भिन्न प्रकृति के पात्र कहीं टहलते हुए, कहीं मार्ग में जाते हुए, कहीं एकान्त बैठे हुए, कहीं किसी की उपस्थिति की ही उपेक्षा कर मनमाना धारा-प्रवाह से बातें करने लगते हैं। छोटे-मोटे स्वगत तो प्रायः प्रत्येक दूसरे-तीसरे पृष्ठ पर ही मिल जाते हैं परन्तु लम्बे-लम्बे स्वगतों की भी कमी नहीं है।[2] परन्तु इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि भावुक, दार्शनिक तथा रहस्यवादी पात्रों के लिए चरित्र का यथार्थ चित्रण करने के लिए स्वगत की योजना बड़ी उपयोगी एवं आवश्यक है। यदि इस प्रकार के पात्रों के लिए स्वगत की योजना बिल्कुल न की जाये तो उनके चरित्र की अन्तर्निहित विशेषताओं पर ठीक से प्रकाश पड़ना कठिन है। उनका चरित्र स्वगत-योजना के बिना अस्पष्ट रह जायेगा। यही कारण है कि स्कन्दगुप्त और देव सेना, चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य और मालविका, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और कोमा, इनके स्वगत-कथन एक ओर यदि इनके चरित्र के उद्घाटन हैं तो दूसरी ओर बिम्बात्मक एवं निर्मल भाषा प्रयोग के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। बाह्य परिस्थितियों से टक्कर लेते हुए पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण इन संवादों द्वारा बहुत ही सुन्दरता और धारावाहिकता के साथ हुआ है।[3] डा० श्रीपति त्रिपाठी भी मानते हैं कि प्रसाद के नाटक इस प्रकार के स्वगत कथनों से भरे पड़े हैं, जिनमें सशक्त मनोविज्ञान तथा तरल भावुकता का मादक रस दिखाई पड़ता है।[4] प्रसाद के ये स्वगत काव्य, मनोविज्ञान और चरित्र-प्रकाशन की दृष्टि से चाहे कितने भी सशक्त और महत्वपूर्ण क्यों न हों हम यह नहीं भूल सकते कि स्वगत भाषण का प्रयोग कलाकार की विवशता का सूचक है। जब उसकी कलात्मकता पराजित होकर हाथ टेक देती है तो स्वगत-भाषण उसे अपनी शरण में रखने को

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २५६-५७
२. चन्द्रगुप्त (प्र० सं०) पृ० १७, ३५, ११३, १३२, १७०, २१२;
   स्कन्दगुप्त (प्र० सं०) पृ० १६, ६३, १२५, १३६, १४६, १४७, १४६;
   नागयज्ञ (प्र० सं०) पृ० ११,६०, ८२ ;
   अजातशत्रु (चतुर्थ सं०) पृ० ७, ४१, ६०, ६९, ७६, ६६, १११, १४० ;
   ध्रुवस्वामिनी (प्र० सं०) पृ० २, ३८, ७२ ;
   विशाख (द्वि० सं०) पृ० ३६, ६८।
३. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० १५१
४. आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्र, पृ० १५

[illegible] है। [illegible] की [illegible]-भूमि पर ही उतर आता है [illegible] है।'

[illegible] त्रिवेदी ने स्वीकार किया है कि उनकी [illegible] गम्भीर भाषा के [illegible] नहीं है तथा उन्होंने प्रसाद और भाषा का [illegible] तो दोष भी [illegible] है।' परन्तु इस सन्दर्भ में यदि एक ओर हमें स्वयं प्रसाद के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण को ध्यान में रखना चाहिए तो दूसरी ओर यह भी [illegible] चाहिए कि जिस 'काव्यात्मक' भाषा का प्रयोग प्रसाद कर रहे थे, उससे वे अपने नाटकों के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक वातावरण के साथ-साथ अपने युग की राष्ट्रीय चेतना और उसके संघर्ष को व्यक्त करना चाहते थे। सुविख्यात नाट्य-समीक्षक ए० निकोल मानते हैं कि नाट्य-जगत में वास्तविक महानता की उपलब्धि 'काव्यात्मक' भाषा के बिना असम्भव है।' एसकीलस सोफोक्लीज, यूरीपिडस एरिस्टोफेन्स, शेक्सपियर जैसे विश्वविख्यात नाटककार वास्तव में कवि ही थे। जन्मजात कवि प्रसाद को 'शब्दों की चमत्कारिक शक्ति' का पूरा ज्ञान था और अपने नाटकों में उन्होंने इसका पूरा-पूरा उपयोग किया। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने प्रसाद के नाटकों की 'सृजनात्मक भाषा' में एक 'भाषिक संघर्ष' के दर्शन किए हैं। उनके अनुसार प्रसाद में संघर्ष या द्वन्द्व का यह रूप एक स्तर पर तो घटनाओं और चरित्रों को लेकर है, पर दूसरी ओर गहरे स्तर पर वह आन्तरिक संवेदन को लेकर स्वयभाषिक संगठन के स्तर पर है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटकों में भाषा की काव्यात्मकता संस्कृत नाटकों की तरह लालित्य की सृष्टि का माध्यम नहीं बनती, वरन् संघर्ष को विकसित और गतिशील करती है।' प्रसाद की नाट्य-भाषा, शब्दावली और भंगिमा में आभिजात्य के बावजूद, अपने प्रवाह के कारण कहीं भी दुरूह या दुर्बोध नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों की भाषा एक निश्चित और समृद्ध अर्थ का संवरण करती है और उनकी पूरी नाटकीय परिकल्पना के अनुकूल है।[५]

अपने नाटकों के उद्देश्यों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए प्रसाद ने बिम्ब-विकास का कुशल उपयोग किया है। उदाहरण के लिए 'ध्रुवस्वामिनी' के आरम्भिक लम्बे संवाद में एक सशक्त और सम्पूर्ण बिम्ब की नियोजना की गई है। 'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर। और इन क्षुद्र

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० १३३

२. हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास : डा० ओझा, पृ० ३६६

३. World Drama : A Nicoll p, 925

४. हिन्दी नाट्य और प्रसाद : भाषा का सन्दर्भ (नटरंग, वर्ष-३, अंक-९, पृ० ५२)

५. वही, पृ० ५३

[illegible] मनोरंजन ही नहीं प्रत्युत् चरित्र-चित्रण और वातावरण निर्माण भी है।[1] प्रसाद के नाटकों में दो प्रकार की नर्तकियां हैं—नाटक के विलास-कक्ष में मनोरंजन करने वाली नर्तकियां और राजकुमारी अथवा सामन्तों की गायिका। विलास-भवन की नर्तकियां नृत्य-गीत द्वारा आगामी घटना के अनुकूल वातावरण का निर्माण एवं नूतन का आदेश देने वाले दर्शक का चरित्र-चित्रण करती हैं। नर्तकियां अथवा गायिका वर्तमान वातावरण को मादक और उत्तेजक बनाकर मुख्य पात्र के हृदय में उत्पन्न प्रेमांकुर के प्रस्फुटित होने में सहायक होती हैं। परन्तु भाषा की दृष्टि से, प्रसाद-गुण रहित प्रसाद के ये गीत सांकेतिक, बिम्बात्मक और अलंकृत होने के कारण दर्शक तो क्या पाठक के के लिए भी दुरूह और क्लिष्ट हो गए हैं।

प्रसाद-परम्परा : अन्य नाटककार

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का अन्तिम नाटक है प्रसाद परम्परा का नहीं। इस परम्परा में इनके बाद भी ऐसे नाटक लिखे गए जिनमें प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की भांति सांस्कृतिक पुनरुत्थानकी चेतना निहित (विहित) है और चरित्र सृष्टि के स्तर से भी प्रसाद के ही गुण-दोषों (गुण कम दोष अधिक) का अनुकरण किया गया है। प्रसाद का व्यक्तित्व इतना महान् था कि उनके समकालीन और इस परम्परा के सभी नाटककारों के व्यक्तित्व उसी में छिप गए फिर भी इनमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के **अशोक** तथा **रेवा**, सेठ गोविन्द दास के **हर्ष** तथा **शशिगुप्त** उग्र का **ईसा** उदयशंकर भट्ट का **मुक्तिपथ** सियारामशरण गुप्त का **पुण्य-पर्व** लक्ष्मीनारायण मिश्र का **गरुड़ध्वज** गोविन्दवल्लभ मिश्र का **अन्तःपुर का छिद्र** आदि नाटक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त इसी परम्परा में ऐसे नाटक भी मिलते हैं जिनकी आधारभूत कथा तो ऐतिहासिक ही है परन्तु मूल चेतना राष्ट्रीय नैतिक है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन लेखकों की स्थूल दृष्टि पौराणिक आदर्श अथवा भारतीय इतिहास के सामन्तीय आदर्शों से आगे नहीं बढ़ सकी—और न टाइप को छोड़कर स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले चरित्रों की ही सृष्टि कर सकी। इस कोटि में हरिकृष्ण प्रेमी के '**रक्षाबन्धन, शिवा साधना, स्वप्नभंग, प्रतिशोध' आहुति, 'मित्र और विषपान** उदयशंकर भट्ट का दाहर गोविन्दवल्लभ पन्त का **राज मुकुट** सेठ गोविन्ददास का **कुलीनता** अश्क का जयपराजय, सत्येन्द्र का मुक्ति-यज्ञ तथा वृन्दावनलाल वर्मा का **झांसी की रानी** आदि हैं। इसी वर्ग के पौराणिक-

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १४

२. हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास : पृ० ४०३

कोमल निरीह लताओं और पौधों को उसके चरण में लौटना ही चाहिए न।"[1] 'कठोर शिखर' और 'निरीह लता' इन दो प्रतीकों के माध्यम से उनके अंतस्सम्बन्ध का पूरा बिम्ब रचा गया है, जो वस्तुत: नाटक के आरम्भ में ही नाटक की मूल समस्या और संघर्ष को बड़ी कुशलता से अंकित कर देता है।

अत. निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रसाद के नाटकों के संवाद सर्वत्र पात्रानुकूल न होने पर भी प्रायः अत्यन्त स्वाभाविक एवं अवसरानुकूल हैं। प्रसंगानुसार वे वेगयुक्त अथवा मंथर कोमल या कठोर तथा आवेशपूर्ण अथवा शान्तिमय हो जाते हैं। भाषा की क्लिष्टता और कठिनता के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि शिष्ट साहित्य भाषा के सृजनात्मक (क्रिएटिव) रूप का प्रयोग करता है। इस सृजनात्मक रूप में लेखक प्रतीक और बिम्बविधान के माध्यम से अपनी बात कहता है, और यहीं उसकी भाषा सामान्य भाषा की तुलना में कठिन हो जाती है।[2]

नृत्य-गीत :— प्रसाद ने अपने पात्रों के चारित्र्य को प्रकट करने के लिए 'कार्य' और 'संवाद' के अतिरिक्त 'गीत' और 'नृत्य' का भी उपयोग किया है। जब कोई पात्र व्यापार अथवा वार्तालाप द्वारा अपने भावोच्छ्वास को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है तो वह गीतों का आश्रय ढूंढता है। जब सभी पात्र एक ही विचार-धारा में निमज्जित होते हैं तो समवेत-स्वर में गीत फूट पड़ता है।[3] प्रसाद ने अपने नाटकों में गीतों का प्रयोग अति की सीमा तक किया है।[4] यह सत्य है कि प्रसाद के सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन्हीं नाटकों में बिखरा पड़ा है परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि ये सभी गीत चारित्र्य-उद्‌घाटन एवं नाटकीय नहीं हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद ने स्वीकार किया है कि अत्यधिक गीत-नृत्य के लिए अभिनय में भरत ने भी मना किया है[5] तथा स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष में बल है; इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियां करें, पाठ्य अर्थात् पढ़ने की वस्तु का प्रयोग पुरुष करें।[6] फिर उन्होंने अपने नाटकों में न केवल 'अत्यधिक गीत-नृत्य' रखे हैं बल्कि पुरुषों से भी गीत गवाए हैं, यद्यपि कहीं-कहीं यह भी प्रतीत होता है कि उनके मन में किसी पात्र-विशेष को संगीत के लिए निर्धारित करने की योजना शायद रही थी। डा० नगेन्द्र के अनुसार पात्रों के स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार

१. ध्रुवस्वामिनी . पृ० १६
२. भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० ७६
३. हिन्दी नाटकों का उद्‌भव और विकास . डा० ओझा, पृ० ८०६
४. विशाख २५ गीत, अजातशत्रु : १२ गीत ; नागयज्ञ ६ गीत ; स्कन्दगुप्त : १३ गीत, चन्द्रगुप्त १३ गीत ; राज्यश्री : ७ गीत और ध्रुवस्वामिनी में ४ गीत हैं।
५. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ६०
६. वही, पृ० ६८

[illegible] है । [illegible] अभिनय [illegible] है, उसका अभिनय ही नाटक में [illegible] है ।¹ इन गानों को भी वैसे 'गाने का गाना' ही [illegible] है । गीतों के स्थान [illegible] प्रसाद ने नृत्य का भी सफल उपयोग किया है और डा० दशरथ ओझा के अनुसार उनका नृत्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं प्रत्युत् चरित्र-चित्रण और वातावरण निर्माण भी है ।² प्रसाद के नाटकों में दो प्रकार की नर्तकियाँ हैं—राजा के विलास-भवन में मनोरंजन करने वाली नर्तकियाँ और राज-कुमारी अथवा रानी की सखियाँ । विलास-भवन की नर्तकियाँ नृत्य-गीत द्वारा आगामी घटना के अनुकूल वातावरण का निर्माण एवं नृत्य का आदेश देने वाले व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करती हैं । नर्तकियाँ अथवा सखियाँ वर्तमान वातावरण को मादक और उत्तेजक बनाकर मुग्ध पात्र के हृदय में उत्पन्न प्रेमांकुर के प्रस्फुटित होने में सहायक होती हैं । परन्तु भाषा की दृष्टि से, प्रसाद-गुण रहित प्रसाद के ये गीत लाक्षणिक, बिम्बात्मक और अलंकृत होने के कारण दर्शक तो क्या पाठक के के लिए भी दुरूह और क्लिष्ट हो गए हैं ।

प्रसाद-परम्परा : अन्य नाटककार

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का अन्तिम नाटक है प्रसाद परम्परा का नहीं । इस परम्परा में इसके बाद भी ऐसे नाटक लिखे गए जिनमें प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की भांति सांस्कृतिक पुनरुत्थानकी चेतना निहित (विहित) है और चरित्र सृष्टि के स्तर से भी प्रसाद के ही गुण-दोषों (गुण कम दोष अधिक) का अनुकरण किया गया है । प्रसाद का व्यक्तित्व इतना महान् था कि उनके समकालीन और इस परम्परा के सभी नाटक कारों के व्यक्तित्व उसी में छिप गए फिर भी इनमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के **अशोक** तथा **रेवा**, सेठ गोविन्द दास के **हर्ष** तथा **शशिगुप्त** उग्र का **ईसा** उदयशंकर भट्ट का **मुक्तिपथ** सियारामशरण गुप्त का **पुण्य-पर्व** लक्ष्मीनारायण मिश्र का **गरुड़ध्वज** गोविन्दवल्लभ मिश्र का **अन्त:पुर का छिद्र** आदि नाटक प्रमुख हैं । इनके अतिरिक्त इसी परम्परा में ऐसे नाटक भी मिलते हैं जिनकी आधारभूत कथा तो ऐतिहासिक ही है परन्तु मूल चेतना राष्ट्रीय नैतिक है । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन लेखकों की स्थूल दृष्टि पौराणिक आदर्श अथवा भारतीय इतिहास के सामन्तीय आदर्शों से आगे नहीं बढ़ सकी—और न टाइप को छोड़कर स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले चरित्रों की ही सृष्टि कर सकी । इस कोटि में हरिकृष्ण प्रेमी के '**रक्षाबन्धन, शिवा साधना, स्वप्नभंग, प्रतिशोध**' *आहुति*, '*मित्र और विषपान* उदयशंकर भट्ट का *दाहर* गोविन्दवल्लभ पन्त का **राज मुकुट** सेठ गोविन्ददास का **कुलीनता** अश्क का **जयपराजय**, सत्येन्द्र का **मुक्ति-यज्ञ** तथा वृन्दावनलाल वर्मा का **झांसी की रानी** आदि हैं । इसी वर्ग के पौराणिक-

१ आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १४

२. हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास : पृ० ४०३

नैतिक चेतना वाले नाटकों में माखनलाल चतुर्वेदी के कृष्णार्जुन युद्ध उदयशंकर भट्ट के सगर विजय तथा उग्र के गंगा का बेटा प्रमुख हैं।

नायक-नायिका प्रधान इन नाटकों में एक ही व्यक्ति की प्रधानता है परन्तु वह भी अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रखता। इनमें पात्रों का उपयोग केवल सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए ही किया गया है। परिस्थिति के भवर में पड़े हुए व्यक्ति के अपने घात-प्रतिघातों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इनमें नहीं मिलता। सामन्तीय व्यक्तित्व वाले इस 'धीरोदात्त' नायक से हमारी वीर-पूजा की भावना का गहरा सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त जिस ऐतिहासिक काल को आधार मानकर ये नाटक लिखे गये उसमें व्यक्ति का एकाधिकार था और इधर हमारे आधुनिक युग के जिस सुधारवादी चरण में इसका सृजन हुआ, उसमें भी व्यक्तिवाद का ही बोलबाला था- समाज में स्वामी दयानन्द (यद्यपि वे इस समय जीवित नहीं थे), राजनीति में महात्मा गांधी और साहित्य में द्विवेदी जी। जागृति के उस प्रथम चरण में पुरानी वीर पूजा फिर से जाग उठी थी।[1] सामन्तीय जीवन सरल, सहज और प्राकृतिक था, यही कारण है कि इन नायकों के व्यक्तित्वों में मानव-वृत्तियां अपने प्रकृत रूप में मिलती हैं। आज की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व सरल है, उसमें ग्रन्थियां और सूक्ष्म उलझनें नहीं हैं और न ही विरोधी गुणों का अन्तर्संघर्ष ही है। प्रेम को पति-पत्नी संबन्ध से भिन्न वह नहीं जानते। इनकी नीति सर्वथा रूढ़िबद्ध है और उसका रूप परम्परागत ही है। उसमें तर्क या सूक्ष्म चिन्तन के लिए स्थान नहीं है।[2]

उदाहरण के लिए सांस्कृतिक-चेतना सम्पन्न नाटकों में प्राय एक पात्र सिद्धांत प्रतिपादन करता है और दूसरा उसका प्रतिफलन। रेवा का ऋषि पुण्डरीक' अशोक का आचार्य उपगुप्त, ईसा का विवेकाचार्य सिद्धांत-प्रतिपादन करते हैं और रेवा, शीला एवं शांति अपने बलिदान द्वारा उसका प्रतिफलन। डा० नगेन्द्र के अनुसार इन नाटकों के आचार्य दण्डयायन (चन्द्रगुप्त), गौतम (अजात शत्रु) मिहिरस्वामी (ध्रुवस्वामिनी) की ही शिष्य परम्परा में हैं और ये स्त्री-पात्र कल्याणी, मालविका देवसेना और कोमा की ही सहेलियां हैं।[3]

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार चरित्र-चित्रण में विशेष मनोवैज्ञानिक सूझ न रखते हुए भी स्रष्टा नहीं बन पाये। अशोक में शीला, अशोक और चण्डगिरि के व्यक्तित्व गम्भीर हैं परन्तु अत्यन्त खण्डित इन पात्रों में आन्तरिक संघर्ष की वांछित शक्ति का अभाव है। रेवा में मकरन्द गोविन्द और इन्दिरा, कला और मञ्जरी के प्रतीक मात्र हैं। इनकी भाषा काफी शुद्ध है परन्तु कहीं-कहीं पर मौर्यकाल की राजकुमारियों

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक डा० नगेन्द्र : ४१
२. वही पृ० ४३
३. आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० २०

के मुंह से उर्दू के शब्द बड़े अटपटे लगते हैं।

उग्र के 'ईसा' में द्वन्द्व नहीं है, इससे उसके चरित्र की महत्ता अधिक व्यक्त नहीं हो पाती। ईसा अतिमानव है, परन्तु उसकी अतिमानवीयता भी बहुत कुछ निष्क्रिय-सी है। शान्ति में भी अपना कोई निजत्व नहीं है। 'ईसा' के दो चरित्रों-ऐलाजार और शाबेल- में काफी प्राण है। स्वगत कम हैं, भाषा भावावेशमयी और शैली उपदेश-प्रधान है।

सेठ गोविन्ददास के हर्ष के विषय में कहा जा सकता है कि 'हर्ष' के चरित्र के लिए असीम गौरव भावना रखते हुए भी नाटककार हमारे सम्मुख कोई महान् एवं सजीव व्यक्तित्व उपस्थित नहीं कर पाता। ईसा की ही भांति हर्ष के जीवन में भी कोई तीव्र द्वन्द्व, नहीं है। अलका, जयमाला और हुएनसाग **रेखा** के पात्रों की तरह भावनाओं के प्रतीक मात्र ही हैं। निम्नवर्ग के पात्रों (मालिन, फलवाली, लकड़ीवाली) में कुछ जीवन अवश्य है।

सियारामशरण गुप्त के **पुण्य पर्व** के बोधिसत्व सुलसोम और नरखादक ब्रह्मदत्त सत् और असत् के प्रतीक हैं। इनकी द्वन्द्व भावना काफी तीक्ष्ण होते हुए भी अत्यन्त सीधी-सादी, सपाट और स्थूल है। भाषा का स्तर इतना साहित्यिक हो उठता है कि स्थान-स्थान पर वह बोझिल हो गई है।

राष्ट्रीय-नैतिक चेतना वाले नाटकों में भी एक विशेष पात्र जागृति का सन्देश-वाहक बनकर यत्र-तत्र-सर्वत्र घूमता रहता है। कुछ पात्रों की सृष्टि ही केवल उपदेश देने के लिए होता है—प्रेमी के **रक्षाबंधन** के शाह साहब, **प्रतिशोध** के प्राणनाथ प्रभु, **शिवा साधना** के रामदास, **स्वप्नभंग** का प्रकाश— इसी प्रकार के पात्र हैं। 'प्रेमी' के पात्र स्फूर्तिमान तो हैं परन्तु व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं है। उदाहरण के लिए बर्नदिवान, जीजी बाई, औरंगजेब, दारा, कोई भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन भावनाओं के ये प्रतीक है उन्हें निकाल देने से, इनमें कुछ भी शेष नहीं रहता। इनमें कोई अन्त संघर्ष नहीं है। इनके संवादों में चुस्ती और चटक तो है पर धार नहीं।

गोविन्दवल्लभ पन्त के **राजमुकुट** के पात्रों में से शीतलसैनी और रणजीत ही कुछ सजीव प्रतीत होते है परन्तु वे भी मूलत: टाइप ही है और शीतलसैनी की मृत्यु तो एकदम अस्वाभाविक हो गई है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'जयपराजय' का नायक चण्ड जीवन की जय-पराजय का सुन्दर प्रतीक है। अन्य प्रधान पात्रों में भी जीवन की यही जय-पराजय की भावना घनीभूत हुई है—रणमल की पराजय उसकी विजय है और विजय पराजय। हंसा का सम्पूर्ण जीवन ही जय-पराजय की शृंखला है। चण्ड का चरित्र आवश्यकता से अधिक आदर्श हो गया है। भारमली तो इतनी सजीव है कि उसे देव सेना और मालविका के समकक्ष रखा जा सकता है।

उदयशंकर भट्ट के 'दाहर' के पात्रों की व्यक्तित्व-रेखाएं स्पष्ट और पुष्ट है—मानू, कासिम और सूर्यदेवी में जीवन की सजीवता है तो परमाल में भोला लालित्य। दाहर की कंचुकी शेक्सपियर के क्लाउन का भारतीय संस्करण है। नाटक की भाषा-शैली पर प्रसाद की दर्शन कवित्वमयी शैली और संस्कृत की रूपक लदी भाषा का प्रभाव काफी स्पष्ट है। स्वभावतः उसमें इन दोनों के गुण-दोष वर्तमान हैं। एक ओर यदि उसमें सूक्तियों का वैभव मिलता है तो दूसरी ओर वह स्टेज के अनुपयुक्त भी है।[1]

सेठ गोविन्ददास के **कुलीनता** का मूल प्रश्न यह है कि कुलीनता जन्मजात है अथवा स्वतः अर्जित ? स्पष्टतः उस पर गांधी जी के अछूतोद्धार आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव है। रूढ़िवादी समाज कुलीनता को सदैव जन्मजात घोषित करता रहा है और महत्वाकांक्षी व्यक्ति सदैव तड़पकर इसके विरुद्ध विद्रोह करता आया है। कुलीनता का नायक यदुराय भी इसी चोट से तड़प रहा है। नाटक में प्रेम का त्रिकोण है। एक नायक दूसरा खलनायक और दोनों की नायिका के लिए प्रतिद्वन्द्विता। आरम्भिक परिस्थितियां नायक के प्रतिकूल हैं—नायिका का पिता भी विरोध करता है, परन्तु नायिका का प्रेम उसी पर है। अन्त में नायक अपने पौरुष के बल से खलनायक को पराजित करके विजय-श्री के साथ नायिका का वरण करता है। ये सभी पात्र कुछ नैतिक भावनाओ के प्रतीक है, इनका अपना कोई अस्तित्व नही है। विन्ध्यमाला का चरित्र भी परम्परागत रूढिबद्ध साचे मे ढला हुआ है। कुछ विद्वानो का विचार है कि चरित्र चित्रण मे नाटककार ने नीच जातीय पात्रो के साथ पक्षपात से काम लिया जान पडता है। उसने नीच पात्रो का आदर्श रंगो मे चित्रण किया है। यदुराय तथा नागदेव आदर्श मित्र, आदर्श वीर तथा आदर्श देशभक्त के रूप मे प्रस्तुत किए गए हैं। दूसरी ओर कुछेक कुलीन पात्रों का(विशेषत. चण्डपीड का)चरित्र बहुत नीचे गिरा दिया गया है। विन्ध्यमाला, रेवासुन्दरी तथा सुरभी पाठक के चरित्र भी कुशलतापूर्वक अंकित किए गए है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद-परम्परा के इन नाटको मे अधिकांश पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर कुछ भावनाओ के प्रतीक मात्र रह जाते हैं अथवा अपने वर्ग के प्रतिनिधित्व पर अपना अस्तित्व बलिदान कर देते हैं। प्रसाद ने अपने दर्शन-कवित्वपूर्ण महान व्यक्तित्व के प्रभाव से अपने पात्रो के जिन दोषों को छिपा लिया था वह इन नाटको के चरित्रो मे अत्यन्त स्पष्ट और मुखर हो गए हैं। इन चरित्रो वाले नाटको की परम्परा क्षीण चाहे हो गई हो, अब तक समाप्त नहीं हुई है।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक . डा० नगेन्द्र, पृ०३८

२. हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन— डा० वेदपाल खन्ना, पृ०२२५.

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में यदि नाटक के पात्रों के बाह्य जीवन को प्रस्तुत किया था तो प्रसाद ने उनके बाह्य जीवन के साथ आन्तरिक-पक्ष के भाव-लोक का भी सुन्दर उद्घाटन किया। उनके पात्र चिन्तन भी करते हैं और अपने चिन्तन के अनुरूप कार्य करने का सामर्थ्य भी रखते है। उनके पात्रों के इस दोहरे चित्रण ने उनकी भाषा को भी प्रभावित किया है और उनके संवाद पात्रों के चारित्र्य के अनुरूप काफी गम्भीर और अनेक अर्थों की पर्तें लपेटे हुए हैं। प्रसाद ने रंग-निर्देश आदि का उपयोग चरित्रांकन में नहीं किया है। चरित्रों का प्रभाव नाटक की भाषा और संवादों पर ही नहीं उनके रूप-बन्ध पर भी पड़ता है। प्रसाद के नाटकों के रूप-बंध की शिथिलता, बहुदृश्यीयता और वर्णनात्मकता का अधिकांश उत्तरदायित्व उनके नाटकों की पात्र-बहुलता और उनके चरित्रांकन पर ही है।

प्रसादोत्तर युग

०लक्ष्मीनारायण मिश्र
० उपेन्द्रनाथ 'अश्क' · समस्या नाटक और चरित्र-सृष्टि

लक्ष्मीनारायण मिश्र.—

रोमांस और भावावेश बहुत पुरानी चीजें हो गई— यह तो जिन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या का युग है' की घोषणा करने वाले नाटककार शेक्सपियर, द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद की नाट्य-कला की प्रतिक्रिया तथा इब्सन और शा के अनुकरणस्वरूप नाट्य रचना में प्रवृत्त हुए। सुधार-युग का स्थूल आदर्शवाद अथवा वर्तमान संघर्ष से घबराकर कल्पनालोक या स्वर्णिम-अतीत में पलायन जिन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ उन्होंने तत्कालीन जीवन की 'बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या' करने के लिए समस्या-नाटक का माध्यम अपनाया। लक्ष्मीनारायण मिश्र इस धारा के प्रमुख नाटककार हैं। वह मानते हैं कि जीवन की यथार्थवादी व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक हम जिन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर से, प्रवृत्तियों के चढ़ाव और उतार को, दैवी और राक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को, लालसाओं और इच्छाओं के मरुस्थल को, होनी और अनहोनी की रंगशाला को देख न लें, समझ न लें।'[1]

पात्र संख्या— चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से मिश्र जी ने प्रसाद की चरित्र-सृष्टि की प्रतिक्रिया में अपने नाटकों में एक ओर यदि पात्र-संख्या सीमित रखी और पौराणिक-ऐतिहासिक (यहाँ हम उनके समस्या-नाटकों की ही चर्चा कर रहे हैं।) चरित्रों के स्थान पर तत्कालीन समाज के साधारण व्यक्तियों को अपने नाटकों का पात्र बनाया

१. राक्षस का मंदिर · लक्ष्मीनारायण मिश्र, मेरा दृष्टिकोण पृ० ७

तो दूसरी ओर उनमें भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की स्थापना की। वर्ग-पात्रों के स्थान पर मनोविज्ञान की दृष्टि से जटिल-कुण्ठित व्यक्ति-पात्रों का सृजन किया। डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार मिश्र जी के नाटकों में पात्रों की संख्या स्वयं ही कम हो गई और नाटक के शरीर में एक स्फूर्ति, कान्ति, चुस्ती आ गई मानो अनावश्यक और अतिरिक्त मांस तथा वसा प्राकृतिक उपचार के कारण क्षीण हो गए हैं और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की ललिमा फैली हो।[1]

स्वरूप-विचार तत्व

मिश्र जी के सभी चरित्रों के मूल में किसी न किसी रूप में संयम की समस्या ही प्रधान है। लेखक ने बुद्धि की सहायता से उसे सुलझाने का प्रयत्न किया है। उसका विचार है कि 'वे (समस्याएं) पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।' यह अलग बात है कि बुद्धिवाद द्वारा जिन समस्याओं को मिश्र जी ने सुलझाना चाहा है उनका ऐसा समाधान नहीं हो पाता कि मस्तिष्क मान लें और तर्क निरुत्तर हो जाए। डा० नगेन्द्र का यह मत पूर्णतः सही है कि मिश्र जी के स्वभाव और मस्तिष्क समझौता करके एक सार नहीं हो पाए। आज उनके चेतन में बुद्धिवाद इसी कारण शुद्ध तर्क पर अवलम्बित नहीं है। उसके भीतर चाहे मिश्र जी स्वयं न भी मानें, भावुकता की एक धारा बह रही है।[2] उदाहरण के रूप में मुक्ति का रहस्य की आशादेवी, सिन्दूर की होली की मनोरमा और चन्द्रकला, आधीरात की मायावती राजयोग की चम्पा आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनका स्वरूप सतह से बौद्धिक ज्ञात होता है परन्तु गहराई से देखने पर उनकी भावात्मकता एवं भावुकता स्पष्ट हो जाती है।

समस्या नाटककारों पर साधारणतः यह आरोप लगाया जाता है कि इनकी चरित्र-सृष्टि सिद्धांतों को उपस्थित करने का निमित्त-मात्र होती है। इन नाटक के चरित्रों में जीवन-शक्ति की झलक नहीं मिलती। वे या तो सिद्धांतों के प्रतिरूप बना दिए जाते हैं या विचारों के पुंज-पुंज रूप लगते हैं। समस्या-नाटककार प्रतिपाद्य सिद्धांतों के अनुरूप पात्रों के आचरणों को स्वेच्छा से नियमित करता है। इस प्रकार या तो वे विचारक नाटककार के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं अथवा एक सिद्धांतवादी से अधिक कुछ नहीं जान पड़ते। जे० डब्ल्यू० मैरियट के अनुसार थीसिस नाटक (समस्या-नाटक) एक उपपत्ति सिद्ध करने के लिए नाट्य कला के सभी अवयवों का बलिदान कर देता है। नाटक के चरित्रों को कठपुतली या नाटककार के विचारों की

---

१. भारतीय नाट्य-साहित्य : सम्पा० डा० नगेन्द्र : पृ० ३३६

२. आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ५३

इन्हीं-उन्हें नहीं होना चाहिए।' मिश्र जी की चरित्र-सृष्टि में व्यक्ति-पात्र भी इन्हीं-चित्रित होते हैं और कहीं-कहीं विचार विशेष के प्रतीक टाइप-पात्र भी। इस के लिए नाटककार ने विशेष गुण वे गुणात्मक को चुना है और मिश्र जी के मुरलीधर, रुस्तमजी मुनीश्वर, मुरारीलाल और एक सीमा तक रामाशरण परम्परावादी, रूढ वर्ग-पात्र ही हैं, यद्यपि एक हद तक उनका चित्रण भी लेखक ने सहानुभूतिरहित होकर नहीं किया है। इनके विपरीत व्यक्ति-पात्र प्रायः परम्परावादी मूल्यों के विद्रोही हैं। परिवेश से संघर्ष करते हुए उनका चारित्रिक विकास होता है। मिश्र जी की चरित्र-सृष्टि में विश्वकान्त, मुरलीधर, मालती, त्रिभुवननाथ, आशादेवी, मनोरमा, मुरारीलाल आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। इन सब का एक जटिल व्यक्तित्व है। वे केवल लेखक के विचार-विशेष के मानवीकृत रूप या कठपुतली मात्र नहीं हैं। इनके प्रायः सभी नाटकों में एक पात्र कवि (कलाकार) है जो आदर्श और यथार्थ में समझौता न कर सकने के कारण जीवन में विफल होता है परन्तु बाद में उसकी विफलता ही शक्ति बनकर उसे ऊपर उठा देती है। सन्यासी का विश्वकान्त, राक्षस का मन्दिर का रघुनाथ, सिंदूर की होली का मनोजशंकर ऐसे ही पात्र हैं। स्त्री पात्रों में एक पात्र जिसे समाज के शब्दों में पतिता कह सकते हैं अनिवार्यतः यहाँ मिलता है। किरणमयी, असगरी आशादेवी मायावती, असफल नारी जीवन की व्याख्या करती हैं। ये सभी लौकिक अर्थ में गिर कर भी अन्त में अपनी आत्मा का संस्कार कर लेती हैं, सिर्फ किरणमयी नहीं पाती इसीलिए उसे मरना पड़ा।

आदर्श-वादी नाटकों की भांति यहां पात्रों की सत्-असत् मूलक कोटियां नहीं होती। मिश्र जी का कथन है— बुराई और भलाई के मेल से ही जिन्दगी बनी है।'[२] समस्या-नाटकों में एक ही पात्र में सत्-असत् का अन्तर्प्रवाह दिखाया जाता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ऐसे द्विधात्मक गुणों वाले चरित्रों की एक लम्बी कतार खड़ी कर दी है। दीनानाथ, विश्वकान्त, मुरलीधर मालती, रघुनाथ, असगरी ललिता, उमाशंकर, आशादेवी, त्रिभुवन, मुरारीलाल, मनोरमा, मनोजशंकर आदि कुछ ऐसे द्विधात्मक चारित्रिक-विशेषता-सम्पन्न पात्र हैं।[३] नायक-प्रतिनायक का द्वन्द्व यहां व्यक्ति बनाम परिवेश के रूप में परिणत हो गया है।

समस्या नाटककार प्रचलित नैतिकता और रूढ परम्परा पर कुठाराघात करता है। वह प्रचलित मानव-सम्बन्धों को अस्त-व्यस्त कर देता है। नाटककार चरित्रों की

१ (क) Modern Drama · p. 9

(ख) W. B. Williams :It seems inevitable that the Problem Play should be played with puppets rather than men.

—The Craft of Literature- p, 106

२. मुक्ति का रहस्य . भूमिका : पृ० १६

३. हिन्दी समस्या नाटक · डा० मान्धाता ओझा, पृ०१३२

पारस्परिकता में अनैतिकता (नयी नैतिकता) अथवा अश्लीलता का उत्तरदायी आज के समाज और उसके व्यक्तियों को ठहराता है। मिश्र जी का कथन 'मुमकिन है वे यह भी कहे कि मेरी रचना अश्लील या संहारक हो गई। उनका यह सब कहना किसी अंश तक ठीक भी होगा। पर इसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं, मुनीश्वर और रामलाल पर है - आशरी और ललिता पर है। अथवा समाज के उसी अधिवास भाग पर है जिसके मुख्य उपकरण मेरे नाटक के ये चरित्र हैं।'[1] कुल मिलाकर एक यथा-तथ्य वादिता, जीवन जैसा है वैसा ही आभास देना, मिश्र जी की नाट्यकला का लक्ष्य है।[2]

संवाद : मिश्र जी ने मनोविश्लेषणता की शैली सरलता से अपनायी है। अत: कथोपकथन प्राय टूटे वाक्यो मे चलता है। भाषा से कवित्व का यथासंभव बहिष्कार किया गया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार उसमे तीखापन अवश्य मिलता है - परन्तु वह सत्य का तीखापन है, भाषा का उतना नही।[3] मिश्र जी में प्रान्तीय प्रयोग और लिंग की त्रुटियां भी काफी की हैं। वार्तालाप को अधिकाधिक स्वाभाविक बनाने के लिए अंग्रेजी संपूर्ण वाक्य ज्यों के त्यो उठाकर रख दिये है। एकाध स्थान पर तो बातचीत ही खासी कठिन अंग्रेजी में होती है। डा० मान्धाता ओझा के शब्दो मे—'कथोपकथन को यथार्थवादी रग-मचोपयोगी स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए मिश्र जी ने अपने समस्या नाटको मे सामान्यत. नित्यप्रति की बोलचाल मे व्यवहृत भाषा शैली का ही प्रयोग किया है।'[4] कथोपकथन स्वाभाविकता से हटा हुआ प्रतीत न हो इसलिए उन्होने अपने नाटको मे स्वगत और जनान्तिक भाषणों तथा गीतो का निषेध किया है। इनके स्थान पर मूक-अभिनय अथवा अर्द्धोक्तियो का विधान किया है। मिश्र जी का कथन है कि 'हमारा नित्य का जीवन जैसा है रगमच का जीवन उससे मेल खा सके। इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझकर छोड़ दिया है। पात्रों की भीतरी भावनाओ और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है— उतना स्वगत नही।'[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर यदि कुछ विद्वान हिन्दी नाटक मे 'चरित्र-प्रतिष्ठा' मिश्र जी की सबसे बड़ी देन[6] मानते हैं अथवा स्वीकार करते है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को जिस स्थान पर लाकर छोड़ दिया था, वह वहीं पर ज्यों का

१. राक्षस का मंदिर : लक्ष्मीनारायण मिश्र (मेरा दृष्टिकोण) . पृ० ७
२. नया साहित्य : नये प्रश्न : नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १६७
३. आधुनिक हिन्दी नाटक . ५६
४. हिन्दी समस्या नाटक . पृ० १६६
५. मुक्ति का रहस्य पृ० १३
६. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-२) : पृ० देवराज उपाध्याय : पृ० ४१४

रखो है;[1] तो दूसरी ओर कुछ नाट्य-समीक्षकों की धारणा है कि इन नाटकों को तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और घात-प्रतिघात की स्थितियों में रखकर अपने परिवेश और परिस्थितियों से लड़ते-जूझते रहते हुए पात्रों को प्रस्तुत करने में नाटककार असफल रहे हैं।[2] नेमिचन्द्र जैन का विचार है कि -'मिश्र जी ने अपने नाटकों में स्त्री-पुरुष के नये-संबन्धों की बौद्धिक जांच-पड़ताल करने का प्रयास किया है। परन्तु इस बदलती हुई स्थिति को गहराई में जाकर देखने योग्य पैनी यथार्थ दृष्टि उनके पास नहीं थी। इसलिए उनके नाटकों के कथानक बनावटी हैं, स्थितियां अधिकांश आरोपित, काल्पनिक और अविश्वसनीय हैं और चरित्र निर्जीव, निरे विचार मात्र, ऐसी अन्तहीन बहस में लगे हुए जो लेखक के खोखले, थोथे आदर्शवाद के कारण अवास्तविक ही नहीं, एक भंगिमा मात्र लगते हैं।[3] मिश्र जी के अधिकांश पात्र यांत्रिक और आन्तरिक गति तथा संगति से शून्य हैं।

इनकी भाषा नितान्त गतिहीन, कृत्रिम और बोझिल है। न उसमें प्रसाद की-सी काव्यात्मकता है न बोलचाल की प्रवाहमयता। वास्तव में वह भाषा है ही नहीं, शब्दों का समुच्चय-भर है— रोमेंटिक काव्य और कथा-साहित्य की भाव-सघन भाषा का प्रभावहीन अवशेष-मात्र। मिश्र जी संवादों में नाटकीयता लाने के लिए अधूरे अधूरे वाक्यों का और उन्हें बीच में बिंदियां लगाकर जोड़ने की युक्ति का बहुत उपयोग करते हैं, जिससे भाषा का रहा सहा प्रवाह भी नष्ट हो जाता है।[4]

मिश्र जी की चरित्र-सृष्टि और उनकी संवाद योजना में कितने भी दोष क्यों न हों किन्तु यह नहीं भुलाया जा सकता कि वह पहले नाटककार हैं जिन्होंने समसामयिक एवं सर्वमान्य जीवन के सर्वसाधारण प्राणी को अपने नाटकों का पात्र बनाया। पात्रों को अच्छे बुरे के वर्गों से निकालकर सत्-असत् भावनाओं से पूर्ण यथार्थ व्यक्ति को नायक का स्थान दिया। सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों से पात्रों का चयन किया। उन्होंने झूठी भावुकता और मामिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया।[5] पौराणिकी, चित्रमय, भावुकतापूर्ण भाषा के स्थान पर यथार्थ जीवन की बोलचाल की भाषा को अपने नाटकों में अपनाया।

मिश्र जी का मूल उद्देश्य नाटक रचना करना नहीं बल्कि नाटक के माध्यम से इब्सन, शा, मायट, वर्जीनिया वुल्फ, लारेंस आदि के प्रभाव से उद्भूत अपने बुद्धिवाद

१. भारतीय नाट्य-साहित्य - डा० देवराज उपाध्याय २४१.
२. आलोचना जनवरी, १९६६ पृ० १८ - डा० सुरेश अवस्थी
३. आलोचना : वर्ष १७, अंक-२ पृ० ८६
४. वही, पृ० ८८
५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ० ५५४-५५

नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को उन्होंने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल मे
कूट-पीस कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्यपरक रसायन तैयार किया।
'अश्क का प्रथम पूर्णकालिक नाटक जय-पराजय १९३७ मे प्रकाशित हुआ था। य
ऐतिहासिक नाटक है और इसके पात्रों की मूल चेतना राष्ट्रीय नैतिक है। परन्तु इ
पात्रों मे सामन्ती युग की नैतिक कठोरता और आदर्शवादी अह होते हुए भी स्वाभावि
विकास है। चण्ड विकास हुआ, मालती, राघवदेव, रणमल, भारमली प्राय स
आदर्शवादी वर्ग-पात्रों का ही प्रतिनिधित्व करते है। इनमे भारमली पर नाटककार
विशेष परिश्रम किया है और यही कारण है कि वह जीवन्त चरित्र बन गई है। स्वर्ग
झलक मे उच्च-शिक्षित युवक-युवतियों के विवाह का प्रश्न उठाया गया है परन्तु इ
के पात्रो मे भी कोई विशेष द्वन्द्वात्मक चरित्र नही है। केवल प्रो० राजेन्द्र का चरित्र
कुछ जीवन्त हो पाया है। शेष पात्रो मे मिसेज राजेन्द्र, मिसेज अशोक तथा उमा स
टाइप है। रघु तथा माई साहब के चरित्र भी कुछ हद तक टाइप बन गए है। म
साहब रूढ़िवादी वर्ग के प्रतिनिधि है जबकि रघु आज के उस युवक-समुदाय
प्रतिनिधि है जो तड़क-भड़क से जगमगाती आधुनिक युवतियो की ओर आकृष्ट हो
स्वर्ग के स्वप्न देखने लगते है। प्रो० राजेन्द्र तथा माई साहब के चरित्रो मे ब
बीच मे लेखक का सुधारक रूप मुखरित हो उठता है। कुल मिलाकर इस नाटक
मध्यवर्गीय जीवन की धुरीहीनता और दम्भ पर हल्का-फुल्का व्यग्य है हास्य है,
मे बोलचाल का प्रवाह और स्वाभाविकता है परन्तु कार्य-व्यापार साधारण
सकता है तथा चरित्र प्राय सीधे रूढ़ और एक-आयामी है। पात्रो की सख्य
अपेक्षाकृत अधिक है।[1] 'छठा बेटा' एक स्वप्न-नाटक है। पुत्र कपूत होते है
पिता कुपिता नही होते' के मूल विचार के इर्द-गिर्द जीवन के कुछ पात्रो को '
कर दिया गया है। फिर भी नाटककार ने बसन्तलाल उनके मित्र दीनदयाल
भाई चाननराम और पण्डित जी के छहो बेटो का सम्पूर्ण चित्र उनके पूरे वि
के साथ अत्यन्त सफलतापूर्वक उपस्थित किया है। इन पात्रो मे से भी पण्डित
लाल, डा० हसराज और मा के चरित्र अत्यन्त सुलझे हुए रूप मे प्रस्तुत कि
है। छठा बेटा' (दयालचन्द) मानव की उस आकाक्षा का प्रतीक है जो कभ
नही होती। शराबी पिता के चित्रण मे लेखक ने सर्वाधिक सुघड़ता और व
का परिचय दिया है। सत्येन्द्र शरत् के शब्दो मे पण्डित बसन्तलाल का चरि
सजा, सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण उतरा है कि अश्क जी को दाद देने को जी
है।[2] अवसरवादी मित्र के रूप मे दीनदयाल का चरित्र भी काफी यथार्थ है।
आखिरकार, नाटककार ने अपनी सवेदना सबसे अधिक 'मा' को प्रदान की है।

1. भारतीय नाट्य-साहित्य सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ० ३७०

का प्रचार करना है। यही कारण है कि उनके अधिकांश पात्र कर्म की अपेक्षा बौद्धिक वादविवाद या अधिक चिन्तन ही करते हैं। भारतेन्दु ने कर्मशील पात्र को प्रस्तुत किया था और प्रसाद ने उसमें हृदय को प्रतिष्ठित किया। मिश्र जी के पात्रों में बुद्धि तो प्रधान है परन्तु हृदय गौण और कर्म तो प्रायः बहुत ही कम है। यही कारण है कि इनके पात्र एकांगी से हो गए हैं। इनके बुद्धिवादी पात्रों के चारित्र्य को प्रगट करने के लिए जिस प्रकार की भाषा की आवश्यकता थी, वैसी भाषा का प्रयोग उन्होंने किया है। चरित्र के उद्घाटन के लिए रंग निर्देशों का भी पर्याप्त उपयोग किया गया है। निरन्तर तर्क में लगे उनके कर्महीन पात्रों का प्रभाव नाटक के रूप-बंध पर भी पड़ा है। उनके नाटकों का रूप-बंध उनके चरित्रों के समान ही शिथिल और दृश्य-कल्पना के समान टूटे-बिखरे संवादों की भांति विशृंखलित है।

अन्य-नाटककार समस्या-नाटकों की ही श्रेणी में सेठ गोविन्ददास के सेवापथ विकास, प्रकाश तथा धीरे-धीरे, गोविन्दवल्लभ पंत का अंगूर की बेटी, उदयशंकर भट्ट का कमला, वृन्दावन लाल वर्मा के बांस की फांस और खिलौने की खोज पृथ्वीनाथ शर्मा के दुविधा एवं अपराधी, प्रेमी के छाया, बंधन तथा उग्र के डिक्टेटर, चुम्बन और अंधारा आदि नाटक भी आते हैं। परन्तु संवादात्मक इतिवृत्त की अनिवार्यता, आरोपित घटना-विन्यास, सरलीकृत स्थितियों, आकस्मिक परिवर्तन तथा एक-आयामी वर्ग-पात्रों वाले इन नाटकों की चर्चा हम यहां नहीं कर रहे है, क्योंकि ये 'नाटक' हर दृष्टि से अनुल्लेखनीय और निरर्थक है। उनकी किसी लिखित प्रकार की रचना के रूप में भी कोई कलात्मक सार्थकता नहीं है, रंगमंच की दृष्टि से तो सर्वथा अप्रासंगिक वे है ही। कलात्मक अभिव्यक्ति की किसी भी महत्वपूर्ण आवश्यकता को वे पूरा नहीं करते और नाटक सम्बन्धी किसी चर्चा में वास्तव में उल्लेखनीय नहीं है।[1] उपरोक्त कथन अत्युक्ति और अतिशयोक्तिपूर्ण भी हो सकता है परन्तु यह मानकर कि उपरोक्त सभी नाटकों के श्रेष्ठ अंश को लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ 'अश्क के नाटकों में अभिव्यक्ति मिल गई है; हम मिश्र जी के पश्चात् 'अश्क' की नाट्य-कला और उनकी चरित्र-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क

सैकम के साथ-साथ सामाजिक-राजनीतिक समस्या-प्रधान नाटक लिखने वालों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का महत्वपूर्ण स्थान है। अश्क हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जिनके नाटकों में रंगमंच की चेतना सुस्पष्ट है। जगदीश चन्द्र माथुर के अनुसार पाश्चात्य

१. नेमिचन्द्र जैन : आलोचना : जुलाई-सितम्बर, १९६७ पृ० ८८

नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को उन्होंने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के [illegible] से धूप-छाँह कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और [illegible] [illegible] तैयार किया।[1] 'अश्क' का प्रथम पूर्णकालिक नाटक जय-पराजय १९३७ में प्रकाशित हुआ था। यह ऐतिहासिक नाटक है और इसके पात्रों की मूल चेतना राष्ट्रीय नैतिक है। परन्तु इन पात्रों में सामन्ती युग की नैतिक कठोरता और आदर्शवादी अह होते हुए भी स्वाभाविक विकास है। स्पष्ट विकास हंसा, भारती, राघवदेव, रणमल, भारमल्ल आदि सभी आदर्शवादी वर्ग-पात्रों का ही प्रतिनिधित्व करते है। इनमें भारमली पर नाटककार ने विशेष परिश्रम किया है और यही कारण है कि वह जीवन्त चरित्र बन गई है। स्वर्ग की झलक में उच्च-शिक्षित युवक-युवतियों के विवाह का प्रश्न उठाया गया है परन्तु इन के पात्रों में भी कोई विशेष द्वन्द्वात्मक चरित्र नहीं है। केवल प्रो० राजेन्द्र का चरित्र ही कुछ जीवन्त हो पाया है। शेष पात्रों में मिसेज राजेन्द्र, मिसेज अशोक तथा उमा सभी टाइप है। रघु तथा भाई साहब के चरित्र भी कुछ हद तक टाइप बन गए है। भाई साहब रूढ़िवादी वर्ग के प्रतिनिधि है जबकि रघु आज के उस युवक-समुदाय का प्रतिनिधि है जो तड़क-भड़क से जगमगाती आधुनिक युवतियों की ओर आकृष्ट होकर स्वर्ग के स्वप्न देखने लगते हैं। प्रो० राजेन्द्र तथा भाई साहब के चरित्रों में बीच-बीच में लेखक का सुधारक रूप मुखरित हो उठता है। कुल मिलाकर इस नाटक में मध्यवर्गीय जीवन की धुरीहीनता और दम्भ पर हल्का-फुल्का व्यग्य है हास्य है, भाषा में बोलचाल का प्रवाह और स्वाभाविकता है परन्तु कार्य-व्यापार साधारण और मनहीं है तथा चरित्र प्राय सीधे रूढ और एक-आयामी है। पात्रों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक है।[2] 'छठा बेटा' एक स्वप्न-नाटक है। पूत कपूत होते हैं, पर पिता कुपिता नहीं होते' के मूल विचार के इर्द-गिर्द जीवन के कुछ पात्रों को 'फिट' कर दिया गया है। फिर भी नाटककार ने बसन्तलाल उनके मित्र दीनदयाल दूर के भाई चानतराम और पडित जी के छहों बेटों का सम्पूर्ण चित्र उनके पूरे विवरण के साथ अत्यन्त सफलतापूर्वक उपस्थित किया है। इन पात्रों में से भी पडित बसन्तलाल, डा० हसराज और मा के चरित्र अत्यन्त सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत किए गए है। छठा बेटा' (दयालचन्द) मानव की उस आकाक्षा का प्रतीक है जो कभी पूरी नहीं होती। शराबी पिता के चित्रण में लेखक ने सर्वाधिक सुघड़ता और बारीकी का परिचय दिया है। सत्येन्द्र शरत् के शब्दों में पडित बसन्तलाल का चरित्र ऐसा खरा, सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण उतरा है कि अश्क जी को दाद देने को जी चाहता है।[3] अवसरवादी मित्र के रूप में दीनदयाल का चरित्र भी काफी यथार्थ है। इसके अतिरिक्त, नाटककार ने अपनी सवेदना सबसे अधिक 'मा' को प्रदान की है। केवल

१. भारतीय नाट्य-साहित्य सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ० ३७०
२. पुरुष ६, स्त्री ५, शिशु ३ और थियेटर हाल की भीड़।
३. छठा बेटा - विवेचन, पृ० १४

यही एक पात्र है जो नाटक के हास्य में गाम्भीर्य की रेखा खींचता चला जाता है। अन्तिम दृश्य में तो मां की व्यथा अनायास ही हृदय को छू लेती है। इसके संवाद अत्यन्त स्वाभाविक, रोचक, चुटीले और गतिशील हैं। उनके कारण पात्रों का चरित्र अधिक निखर गया है। रंग-निर्देशों का लेखक ने अत्यधिक प्रयोग किया है इससे यदि एक ओर नाटक 'सुपाठ्य बना है तो दूसरी ओर पात्रों के चरित्रांकन में एक अनूठा सौन्दर्य आगया है।

अश्क के नाटक **कैद और उड़ान** में स्त्री-पुरुष के अनियन्त्रित मनोवेग, उनके अवरोध और परिष्कार का ही मार्मिक चित्रण है। जो नारी 'कैद' में निष्क्रिय, असमर्थ और कारावद्ध है, वह 'उड़ान' में सक्रिय घोर विद्रोहिणी और अपनेपन की खोज में विफल है। 'अश्क' ने मध्य-वर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी और उसके सहयोग से वंचित अस्वस्थ, प्रमादग्रस्त और विकृत पुरुष के सामने एक नयी पगडण्डी बिछा दी है। वह पगडण्डी 'मदनूर' की स्वप्निल घाटियों से गुजरती और 'नाहुग' की खूंखार लहरों को चीरती, 'रमेश' की उपासना के शिखरों और 'शंकर' की वासना के खड्डों से बचती हुई समतल धरती की खोज में बढ़ी चली जाती है।

'कैद' की अप्पी, जो कवि दिलीप से प्रेम करती थी, अपने विधुर जीजा प्राणनाथ से विवाह के लिए बाध्य होती है। नाटक उसके जीवन की नीरसता, प्राणहीनता और व्यर्थता को प्रस्तुत करता है। दिलचस्प बात यह है कि नाटक के हर पात्र की अपनी-अपनी कैद है अप्पी की, उसके पति की, प्रेमी कवि दिलीप की और उसकी वर्तमान प्रेयसी वाणी की। मानवीय स्थिति की ऐसी परिणति की प्रतीति, कम से कम संभावना के स्तर पर, हिन्दी नाटक को नया स्तर देती है। पर अश्क इस संभावना का पर्याप्त सूक्ष्म, गहरा और संवेदनशील उपयोग नहीं कर सके हैं। अप्पी और दिलीप की अपनी-अपनी कैद और उनके अन्त.सघर्ष मे पर्याप्त विसदृशता प्रखरता और सार्थकता नही है। कुल मिलाकर चरित्रों मे सघर्ष और परिणति की, और घटनाओं तथा संघर्ष के साथ चरित्रों की, पर्याप्त और अनिवार्य संगति नहीं है।[1]

डा० धर्मवीर भारती ने **'कैद और उड़ान'** में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के चक्र मे उलझे हुए मानव के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा, घायल संस्कार और प्यासी खूंखार प्रवृत्तियां[2] देखी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस की उन्मुक्त काम-पिपासा 'अप्पी' मे यौन स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त हुई है जबकि 'वीणा' इस प्रकृत वासना मे स्वत ही लवलीन है। और 'उड़ान' की माया काम-प्रवृत्ति की परिष्कृति है। 'अप्पी मानसिक व्यग्रता के परिणामस्वरूप किसी न किसी शारीरिक रोग से घिरी

१. नेमिचन्द्र जैन : आलोचना - जुलाई-सितम्बर, १९६७ पृ० ९०

२. 'कैद और उड़ान' व्याख्या

रहती है। लेकिन उनके अंकन की कच्चे दर्जे का है। प्राणनाथ में अपराध-ग्रन्थि है।[1] इन नाटकों की रचना-प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक रंग-संकेत, संवाद, एवं सांकेतिक चेष्टाओं से युक्त है। इन सभी पात्रों में 'मालती' ही सबसे अधिक विश्वसनीय, रोचक और सम्भावनापूर्ण है, शायद इसलिये वह बहुत कम सुनती है। कुल मिलाकर इन चरित्रों में मनोवैज्ञानिक गहराई है चाहे उसने इन्हें एक-आयामी ही क्यों न बना दिया हो।

भवर में उच्च वर्ग की अत्यधिक शिक्षित बौद्धिक युवती 'प्रतिमा' के कुण्ठित व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है। वह 'नीलाभ' से प्रेम करती थी परन्तु उसका प्रतिदान उसे नहीं मिला। बाद में कोई पुरुष उसे संतुष्ट नहीं कर पाता। परन्तु इस गहन मानवीय स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए अश्क जिस संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं वह काफी हद तक बाह्य और स्थूल है। वस्तुतः इस नाटक के पात्रों की परिकल्पना में जो जटिलता है वह रंगमंच पर कार्य-व्यापार द्वारा प्रकट नहीं हो पाती; एक कथा की भाँति निर्देशों के वर्णन में ही अधिक रहती है। स्थितियों में कोई भी नाटकीय मोड़ नहीं जो प्रतिमा के व्यक्तित्व को और उसके संघर्ष को एक साथ कई स्तरों पर रंगमंच पर मूर्त कर सके।[2]

अलग-अलग रास्ते में रानी और राजी नामक दो बहनों के अलग अलग रास्तों की कथा है। दोनों का विवाह असफल सिद्ध होता है। परन्तु अश्क ने इस समस्या के कुरीतिमूलक स्थूल सामाजिक पक्ष को ही उभारा है। राजी और रानी दोनों में से किसी का परिस्थिति से असंतोष अपने पति से प्रेम के कारण या किसी तीव्र मानवीय प्रकार के दुर्व्यवहार के कारण नहीं। किसी प्रकार के गहरे आन्तरिक सम्बन्ध, तीखी मानसिक यातना अथवा नाटकीय अन्तःसंघर्ष का कोई स्पर्श इनमें नहीं है।

अंजो दीदी एकांकी से बढ़ाकर पूर्णकालिक बनाया गया है इसमें यांत्रिक नियमबद्धता के विरुद्ध है। डा० लाल के अनुसार अंजो का चरित्र एक ओर गहन तथा संश्लिष्ट है, तो दूसरी ओर वह एक विशेष मनोग्रन्थि का शिकार है, जिसके तल में एक असाधारण आभिजात्य संस्कार तथा उससे भी आगे उसके नाना के विचारगत चरित्र का इतना गहन प्रक्षेपण उसके ऊपर है कि 'अंजोदीदी' अंजो दीदी कम है अपने स्वर्गवासी नाना की प्रतिनिधि ज्यादा। और पूरी अंजो दीदी, जिसके जीवन-दर्शन और सजीव कथा पर इस नाटक की रचना हुई है, एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक सत्य तथा मानसिक प्रक्रिया है।[3] इस नाटक की ट्रेजडी यही है कि

१. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० गणेशदत्त गौड़ ; पृ० २४४
२. नेमिचन्द्र जैन : आलोचना : जुलाई-सितम्बर, १९६७, पृ० १०
३. विवेक के रंग : सम्पा० देवीशंकर अवस्थी : पृ० ३८७

अंजोदीदी का चरित्र मनोवैज्ञानिक कथा का उदाहरण-मात्र है, कथा का दर्शन उसमें नहीं है। 'अंजो दीदी' का चरित्र हमें 'ब्रेक' देता है। अर्थात् कुछ नहीं देता—शून्य और शून्य और शून्य बराबर शून्य।[1] इसके विरुद्ध कमलेश्वर का विचार है कि अंजली का मनोविज्ञान ऐसे स्तर पर सगठित हुआ है कि उसकी यह सनक ऊपरी या थोथी नहीं दिखाई देती। इस सनक को चालित करने वाली शक्ति है—उसका प्रखर अहं।[2] वकील साहब (इन्द्रनारायण) उस दरिया के समान हैं जो अपनी अल्हड़ता मनमौजीपन, मस्ती और स्वच्छन्दता खोकर—नपीतुली, बंधी-बंधाई नहर में परिवर्तित कर दिया गया हो। वकील साहब का जीवन-सारी वास्तविकताओं को स्वीकार करता, उनसे जूझता, चढ़ता-उतरता, टूटता-बनता और अंत तक पहुँचते-पहुँचते अथाह करुणा से भर उठता है—जो टूटते-टूटते यदि एक ओर बन पाया तो दूसरी ओर बनते-बनते टूट भी गया है। 'श्रीपत' इस नाटक का सबसे शक्तिशाली चरित्र बन पड़ा है। श्रीपत वह प्रवृत्तिमूलक पात्र है जो अंजो की असंगतियों और सनक के भ्रम को तोड़ने के लिए एक दर्शन लेकर नाटक में अवतरित होता है। उसका दर्शन अपनी प्रकृति में मध्यमार्गीय है। कमलेश्वर का विचार है कि श्रीपत निश्चय ही आदर्शवादी है, पर 'धार्मिक आदर्शवादी' नहीं, जैसी कि अंजली है।[3] उसका व्यक्तित्व मौजी, मुंहफट और एक दम खुला हुआ है। ग्रन्थियां तो उसमें नाममात्र को भी नहीं हैं। इस नाटक के समूचे सत्य का मानो वही एकमात्र द्रष्टा है। 'अनिमा' के चरित्र को नाटककार ने उभरने नहीं दिया है। सदा कोने में दुबकाकर, चुपचाप कुरसी पर बैठाकर, कार्य तत्व से सदा दूर रखकर उसे व्यक्तित्व-प्राप्ति से वंचित रखा गया है। डा० लाल का विचार ठीक ही है कि इसका उपयोग नाटककार ने किया है; अनिमा का अंजली के चरित्र के विपर्य में रखकर, अंजली के चरित्र को उभारने में, और अनिमा की पात्रता 'नैरेटर' अर्थात् वाचक अथवा सूत्रधार के रूप में है।[4] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से योगी यदि अंजली की रूह है तो नीरज श्रीपत की प्रकृति। दूसरे शब्दों में नीरज को श्रीपत का अपूर्ण सपना कह सकते हैं और नीरज का पुत्र नीलू उस सपने की सम्भावित परिणति का संकेत है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि इस मनोवैज्ञानिक नाटक के सभी पात्र स्नायु व्याधिग्रस्त नारी माविद अंजो की परिक्रमा (उसके पीछे पीछे चलकर या विरुद्ध दिशा में चलकर) कर रहे हैं।

अंधो गली को अश्क ने अपना नवीन नाट्य प्रयोग माना है। परन्तु 'अंधी गली' वास्तव में शिथिल रूप से सम्बद्ध छः एकांकियों का संग्रह मात्र है, एक सम्पूर्ण नाटक नहीं। इसमें पात्र बहुत अधिक हैं और चरित्रों में अतीव सरलीकरण और

१. वही, पृ० ३८८
२. अंजोदीदी—एक मूल्यांकन : पृ० ८
३. वही, पृ० ११
४. विवेक के रंग—पृ० ३८६

एक आयामिता विद्यमान है।

अन्ततः हम कह सकते है कि श्रमसाध्य और प्राणवान पात्रों का सृजन अश्क की प्रमुख विशेषता है। जान पड़ता है कि अश्क नाटक लिखते समय जब एक आधार भूत भावना के लिए आंखें दौड़ाते है तो वे कल्पना की आंखें नही, स्मृति के नेत्र होते है। इसलिए मध्यवर्ग की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण मे उन्हे लम्बे भाषणों का सहारा नही लेना पड़ता, वे केवल परिस्थिति-विशेष के ऊपर से पर्दा उतारकर रख देते हैं।[1] अश्क के पात्र अपनी साधारणता मे असाधारण है क्योंकि वे सामान्य-जन की भांति तकिया-कलामो का प्रयोग करते हैं, बातचीत करते-करते उलझन मे पड़ जाते हैं, खण्डित वाक्यावलियां उनके मुंह से निकलती हैं अधमुन्दी भंगिमाएं उनके सवादो मे बिखरी पड़ी हैं और गम्भीर वार्तालाप के बीच वे कोई छोटी-मोटी चर्चा भी छेड़ देते हैं। सम्वाद अत्यन्त रोचक, चुटीले, स्वाभाविक और गतिशील हैं। उनके कारण पात्रो का चरित्र-चित्रण अधिक निखर गया है। चरित्रांकन मे रंग-निर्देशों का उपयोग अश्क ने अति की सीमा तक किया है। इससे नाटक 'सुपाठ्य' तो अवश्य बन गए है परन्तु रंगमचीय दृष्टि से इनका अधिक उपयोग नही है। अश्क की अपनी सीमा है कि (मनोरंजन की दृष्टि से शायद सामर्थ्य) वे नाटक मे कथा-तत्व पर अधिक बल देते हैं तथा व्यक्तियों और घटनाओ को इनके बुनियादी और गहरे सघात मे घटित होते नही दिखा पाते, अधिक से अधिक पृष्ठभूमि के रूप में उसका वर्णन भर कर पाते हैं। यही कारण है कि इतने नाटको के स्रष्टा होने पर भी वे किसी स्मरणीय व्यक्तित्व अथवा अमर चरित्र की सृष्टि नही कर सके। फिर भी, अश्क हिन्दी नाटक की बदलती हुई चेतना को उल्लेखनीय अभिव्यक्ति देने वालों मे पहले नाटककार है।

---

१. जगदीशचन्द्र माथुर : भारतीय नाट्य-साहित्य — सम्पा० डा० नगेन्द्र, पृ० १०१

यन्त्र का प्रारम्भ है। दूसरे में, महामात्य (राजराज चालुक्य) के विद्रोह और आक्रमण की सूचना मन्दिर का दुर्ग में बदलना तथा शिल्पियों द्वारा महामात्य के विद्रोह का सामना करने की घोषणा है। तृतीय अंक में अधिकांश शिल्पियों के बलिदान के बाद अन्तिम उपाय के रूप में विशु द्वारा चुम्बक तोड़कर अधर में लटकी सूर्य की मूर्ति को गिराना और मन्दिर का गिरना चित्रित किया गया है। यह समस्त कथा और ये सभी पात्र हिन्दी नाटक जगत् की अपूर्ण स्थिति का प्रतीकात्मक चित्र ही उपस्थित करते हैं। मंदिर का निर्माण लगभग पूरा हो गया है। केवल शिखर की प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है। समस्या है पुराने शिल्पी और उसके अप्रतिष्ठित नए उत्तराधिकारी की।[1] विशु और धर्मपद के चरित्रों द्वारा नाटककार ने "कलाकार के मानस में कुण्डली मार कर सोये, पौरुष-नाग की अनहद फुत्कार" तथा सौन्दर्य-सुधा के सम्मोहन में अपने को भूल जाने वाले कलाकार के युग-युग से मौन-पौरुष को वाणी देने का सफल प्रयास किया है। शिल्पी विशु और धर्मपद दो युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं नाटक के इन चरित्रों में भावना का तीव्र संघात और आत्म-व्यथा की अनेक स्थितियां अत्यन्त सुन्दरता से प्रदर्शित की गई हैं यद्यपि कहीं-कहीं अतिरिक्त भावुकतापूर्ण स्थितियां भी आ गई हैं; परन्तु विशु जैसे कलाकार के लिए भावुकता में बह जाना दोष नहीं माना जा सकता। विशु, मुकुन्द (विशु का मित्र और प्रौढ़ शिल्पी) कलाकार की उस चेतना के प्रतीक हैं, जो जीवन के संघर्ष से सर्वथा परे कला की एकान्त साधना के पक्षपाती हैं (अप्रत्यक्ष रूप से मानो रंगमंच से दूर रहने वाले नाटककार के प्रतीक) जबकि धर्मपद जीवन के आदि और उत्कर्ष में जीवन के सत्य को चित्रित करने का अभिलाषी है (जैसे आज का नाटककार)। उसकी वाणी में आज का युग बोल रहा है। शताब्दियों से पीड़ित शोषित, मूक जनता की वेदना मुखरित हो उठी है। इसमें साम्राज्य शाही के विरुद्ध जनता की महान् शक्ति को उभारा गया है।

[illegible] भी नारी-पात्र न होने पर भी नारी की करुणा, उसके प्रेम और मातृत्व की [illegible] तथा "उसके [illegible] और तेजस्वी रूप" का सुन्दर [illegible] है। धर्मपद के अनुसार—

"उसी ने मुझे यह शक्ति दी, जिससे [illegible] और [illegible] को [illegible] मेरे जीवन का [illegible] है।"[2]

धर्मपद का [illegible] (विशु) और [illegible] की [illegible] [illegible]

1. [illegible] — डा० [illegible]

([illegible], वर्ष ३, अंक १, पृ० २१)

2. [illegible], पृ० १

[illegible] - पृ० ००

स्थोग किया गया है) जीव-शास्त्र और मनोविज्ञानानुकूल होने के साथ-साथ अत्यन्त काव्यमय और रोमेन्टिक पृष्ठभूमि मे अनुरंजित है। डा० गणेश दत्त गौड के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशु और धर्मपद दोनों एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू प्रतीत होते हैं जो एक के हट जाने पर दूसरे का आना स्वभावत. हो जाता है। धर्मपद का अपने जीवन का बलिदान भी विशु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक ज्ञात होता है।[1] फ्रायडियन मनोविश्लेषण के अनुसार कोणार्क विशु की काम-भावना(प्रेम)का उदात्तीकरण है।[1]

विशु और धर्मपद के चरित्रो के अतिरिक्त नाटककार ने राजा नरसिंह देव और षड्यन्त्रकारी चालुक्य राजराज के चरित्रो की विषमता का भी सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु ये दोनो पात्र अपने रूढ-वर्ग-रूपो से मुक्त नही हो पाये हैं। इनके चित्रण मे लेखक ने केवल एक-एक रग ही भरा है। नरसिंहदेव केवल कला प्रिय और प्रजावत्सल उज्ज्वल-नरेश हैं और राजराज चालुक्य केवल षड्यन्त्रकारी-क्रूर महामात्य। इन चार प्रमुख पात्रो के अतिरिक्त शेष सभी गौण पात्र वातावरण-निर्माण अथवा इनके आन्तरिक मनोभावो के प्रकटीकरण के लिए प्रयुक्त किये गए हैं यद्यपि नाटककार ने उन्हे भी उनका चरित्र प्रदान करने की भरसक कोशिश की है।

सवादो मे सरसता के साथ-साथ पात्र एव परिस्थिति के अनुकूल कही ओज और कही करुण मार्मिकता का समावेश है। सवाद सक्षिप्त तथा अनावश्यक विस्तार से रहित होने के कारण अत्यन्त नाटकोपयोगी तथा प्रभावोत्पादक बन गए हैं। प्रथम अंक के प्रारम्भिक अश मे कथोपकथन अधिक है और 'कार्य' प्राय नगण्य है। दूसरे अक मे सवाद भावावेश और नाटकीय गति के वाहन है। तृतीय अक के सवादो मे काव्य-सुलभ सुकोमलता अधिक है। पात्रो की वेष-भूषा और उनके सही चरित्राकन के प्रति नाटककार पर्याप्त सचेत है। इसके लिए उसने रग-निर्देश तथा परिशिष्ट (१) द्वारा अपनी चरित्र-परिकल्पना को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के दूसरे नाटक **शारदीया** की पृष्ठभूमि १९वीं शताब्दी के मराठा इतिहास से सम्बद्ध है परन्तु **कोणार्क** की भाति इसकी भी मूल-भाव-वस्तु कलाकार और उसके प्रेरणा-स्रोतों का परिवेश के साथ सबन्ध ही है। कलाकार और उनके विभिन्न बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्धो से उलझाव इस नाटक को समकालीन हिन्दी साहित्य की अन्य सृजनात्मक विधाओ से तो जोडता ही है, साथ ही नाटक को मनोरजन का साधनमात्र मानने की बजाय उसे एक गहरे स्तर पर महत्वपूर्ण सृजनात्मक कार्य-कलाप का स्थान भी प्रदान करता है। इसके पात्रो की परिकल्पना और उनके पारस्परिक सम्बन्ध मे तीव्रता, विविधता और सयम काफी अधिक है तथा अनावश्यक पक्षो मे उलझाव भी प्राय कम है। परन्तु मराठा इतिहास की

१. आ० हि० ना० म० अ० : पृ० ३५४
२. देखिए : कोणार्क : पृ० ७३ (विशु के सवाद)

अध्याय ३

समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि :

The contemporary temper is non-heroic if not anti-heroic: the writer is no more interested in constructing man; he is conten[t] to discover man as he is, recognizing his profound importance: Ex[ile] of the Hero : S. H. Vatsyayan

(Contemporary Indian Literature; p. 94)

साहित्य-सृजन के क्षेत्र में किसी वर्ष विशेष से उसकी प्रवृत्तियां, मूलप्रेरणाओं और अभिव्यंजना शैलियो में अन्तर की लक्ष्मण-रेखा खीच देना दुराग्रह मात्र ही होता है। फिर भी, भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति अपने आप मे एक ऐसी घटना थी कि उस वर्ष को केवल पिछले वर्ष के बाद का एक वर्ष कह कर टाला नही जा सकता। विज्ञान के आविष्कारो, मनोविश्लेषण की खोजों तथा पूजीवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया भारतीय समाज और साहित्य पर स्वतन्त्रता से पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। नाट्य-सृजन के स्तर से शा और इब्सन का प्रभाव लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे नाटककारों की रचनाओ मे अभिव्यक्ति पा रहा था और इनमे से अधिकांश नाटककार स्वतन्त्रता के बाद भी उसी प्रकार नाट्य-सृजन मे संलग्न रहे हैं। परन्तु नाट्य-रचना के क्षेत्र में वास्तविक नवोन्मेष, जिसे हम निश्चय ही आधुनिक नाट्य-आन्दोलन का प्रारम्भ कह सकते हैं, स्वतन्त्रता के बाद (अधिक सही कहें तो १९५१ कोणार्क के प्रकाशन काल) से हुआ। इस नवोन्मेष के मूल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से उत्पन्न हमारी बौद्धिकता, नवीन सौन्दर्य-वृत्ति एवं सांस्कृतिक चेतना है जिसने जीवन के गहरे और वास्तवि[क] सत्य को स्वीकार किया। इंग्लैण्ड, अमरीका, रूस, फ्रान्स तथा एशियाई देशों [के] सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने हमारा ध्यान हिन्दी के जीवित रंगमंच और व्यावहारि[क] [रंगमं]च के अभाव की ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप रंगमंच के प्रति एक आस्था का उदय हुआ और हिन्दी-नाटककार नवीन नाट्य-प्रयोगों की ओर प्रवृत्त

हुआ। चरित्र-सृष्टि के धरातल पर से युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि पौराणिक, ऐतिहासिक काल के मिथक सदृश्य पात्रो को युग-सापेक्ष्य नई भूमिकाएं देकर उन्हें आधुनिक जीवन-सन्दर्भों मे सार्थक भंगिमाएं प्रदान की गईं। सामाजिक नाटक को उसके परम्परागत नाट्य-विधान के चौखटे से तोडकर सर्वथा एक नवीन रूप-विधान मे बांधने तथा यथार्थ जीवन के जीवन्त चरित्रो और उनके कार्य-व्यापार को कही गहरे जीवन-सन्दर्भों मे जोड़ने का सार्थक प्रयत्न हुआ। घटनाओं के स्थान पर संवेदनो और वर्ग-पात्रो की अपेक्षा व्यक्ति चरित्रों के चित्रण को अधिक महत्व दिया गया। कलाकार के व्यक्तित्व-संघटन की चिन्ता ने नाटककार को सर्वाधिक परेशान किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के नाटको से लेकर आज के समसामयिक नाटकों तक नाट्य-रचना और चरित्र सृष्टि के धरातल से विभिन्नताओ की अपेक्षा समानताएं इतनी अधिक हैं कि सन् साठ से पूर्व के नाटको का चरित्रगत विवेचन हम उसी क्रम और तारतम्यता को बनाए रखने के लिए यहां 'उपक्रम' के अन्तर्गत प्रस्तुत कर रहे है।

जगदीशचन्द्र माथुर

नाटक को रगमच से जोडने और उसे सार्थक रचनाशीलता के स्तर पर प्रस्तुत :रने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास किया जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटक कोणार्क । यथार्थवादी नाट्य-लेखन परम्परा का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है, जिस वस्तु-विधान और चरित्र-विधान मे इस परम्परा के सर्वोत्तम तत्वो का समावेश हुआ है। इसमे एक बीते हुए युग के सन्दर्भ में समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है, जिससे घटनाओ, पात्रों और भाषा को एक से अधिक स्तर और आयाम प्राप्त होते है और सम्भाव्य निहित नाटकीय अर्थों का महत्व बढ़ जाता है।

कोणार्क मे कोई स्त्री पात्र नही (यद्यपि नाटक के दूसरे सस्करण मे नाटककार ने 'उपक्रम' और 'उपसहार' के गीतो को मधुर एव मर्मस्पर्शी रूप देने के लिए स्त्री-पात्रों (स्वरो) को जोड़ दिया है), बारह पुरुष-पात्र हैं और दो दृश्य-बन्ध। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धो पर अवलम्बित इस नाटक मे नारी को मच पर प्रस्तुत न करने का रहस्य सम्भवत: १९५०-५१ के तत्कालीन भारतीय समाज के रगमंच के प्रति असम्मानपूर्ण दृष्टिकोण और नारियो के रगमच से दूर रहने की स्थिति मे छिपा है।

कोणार्क के सूर्य-मन्दिर को उत्कल राज्य के प्रधान शिल्पी विशु ने बना दिया है, केवल शिखर बनना शेष है—इस नाटकीय स्थिति मे नाटक आरम्भ होता है। प्रथम अंक मे प्रतिभाशाली युवक शिल्पी धर्मपद के प्रयास से कोणार्क के शिखर का निर्माण, नरसिंहदेव के महामात्य का शिल्पियो पर अत्याचार और नरसिंहदेव के विरुद्ध षड्-

यन्त्र को प्रारम्भ है। दूसरे मे, महामात्य (राजराज चालुक्य) के विद्रोह और आक्र-मण की सूचना मन्दिर का दुर्ग मे बदलना तथा शिल्पियों द्वारा महामात्य के विद्रोह का सामना करने की घोषणा है। तृतीय अंक में अधिकांश शिल्पियों के बलिदान के बाद अन्तिम उपाय के रूप मे विशु द्वारा चुम्बक तोड़कर अधर में लटकी सूर्य की मूर्ति को गिराना और मन्दिर का गिरना चित्रित किया गया है। यह समस्त कथा और ये सभी पात्र हिन्दी नाटक जगत् की अपूर्ण स्थिति का प्रतीकात्मक चित्र भी उपस्थित करते हैं। मंदिर का निर्माण लगभग पूरा हो गया है। केवल शिखर की प्रतिष्ठा नही हो पा रही है। समस्या है पुराने शिल्पी और उसके अप्रतिष्ठित नए उत्तराधिकारी की।[1] विशु और धर्मपद के चरित्रों द्वारा नाटककार ने 'कलाकार के मानस मे कुण्डली मार कर सोये, पौरुष-नाग की अनहत फूत्कार'[2] तथा सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन मे अपने को भूल जाने वाले कलाकार के युग-युग से मौन-पौरुष को वाणी देने का सफल प्रयास किया है। शिल्पी विशु और धर्मपद दो युगों का प्रति-निधित्व करते हैं नाटक के इन चरित्रो मे भावना का तीव्र संघात और आत्म-मन्थन की अनेक स्थितिया अत्यन्त सुन्दरता से प्रदर्शित की गई हैं यद्यपि कहीं-कहीं अतिरिक्त भावुकतापूर्ण स्थितिया भी आ गई हैं; परन्तु विशु जैसे कलाकार के लिए भावुकता में बह जाना दोष नही माना जा सकता। विशु, मुकुन्द (विशु का मित्र और प्रौढ शिल्पी) कलाकार की उस चेतना के प्रतीक हैं, जो जीवन के संघर्ष से सर्वथा परे कला के एकान्त साधना के पक्षपाती हैं (अप्रत्यक्ष रूप से मानो रंगमंच मे दूर रहने वाले नाटककार के प्रतीक) जबकि धर्मपद जीवन के आदि और उत्कर्ष मे जीवन के संघर्ष को चित्रित करने का अभिलाषी है (जैसे आज का नाटककार)। उसकी वाणी में आज का युग बोल रहा है। शताब्दियों से पीडित उपेक्षित, मूक जनता की वेदना मुखरित हो उठी है। इसमें साम्राज्य शाही के विरुद्ध जनता की महान् शक्ति को उभारा गया है।

एक भी नारी-पात्र न होने पर भी नारी की महत्ता, उसके प्रेम और मातृत्व की महानता तथा 'उसके मनोरम और तेजस्वी रूप' का सुन्दर प्रतिपादन नाटक मे हुआ है। धर्मपद के अनुसार—

"उसने मुझे वह शक्ति दी, जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़कर नये जीवन का प्रतीक बनता है।"[3]

धर्मपद का श्रीधर (विशु) और चन्द्रलेखा की संतान होना और तृतीय अंक में उसका नाटकीय उद्घाटन जिसमे कि सुपरिचित नाटकीय युक्तियों और रूढ़ियों का

---

१. हिन्दी नाट्य-लेखन : कुछ समस्याएं— डा० धर्मवीर भारती, (नटरंग : वर्ष १, अंक १, पृ० ५३)

२. कोणार्क : परिचय, पृ० ६

३. कोणार्क : पृ० ७०

प्रयोग किया गया है) जीव-शास्त्र और मनोविज्ञानानुकूल होने के साथ-साथ अत्यन्त काव्यमय और रोमेन्टिक पृष्ठभूमि से अनुरंजित है। डा० गणेश दत्त गौड के अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशु और धर्मपद दोनों एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू प्रतीत होते हैं जो एक के हट जाने पर दूसरे का आना स्वभावतः हो जाता है। धर्मपद का अपने जीवन का बलिदान भी विशु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक ज्ञात होता है।[1] फ्रायडियन मनोविश्लेषण के अनुसार कोणार्क विशु की काम-भावना(प्रेम)का उदात्तीकरण है।[2]

विशु और धर्मपद के चरित्रों के अतिरिक्त नाटककार ने राजा नरसिंह देव और षड्यन्त्रकारी चालुक्य राजराज के चरित्रों की विषमता का भी सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु ये दोनों पात्र अपने रूढ़-वर्ग-रूपों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। इनके चित्रण में लेखक ने केवल एक-एक रंग ही भरा है। नरसिंहदेव केवल कला प्रिय और प्रजा-वत्सल उत्कल-नरेश हैं और राजराज चालुक्य केवल षड्यन्त्रकारी-क्रूर महामात्य। इन चार प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त शेष सभी गौण पात्र वातावरण-निर्माण अथवा इनके आन्तरिक मनोभावों के प्रकटीकरण के लिए प्रयुक्त किये गए हैं यद्यपि नाटककार ने उन्हें भी उनका चरित्र प्रदान करने की भरसक कोशिश की है।

संवादों में सरसता के साथ-साथ पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल कहीं ओज और कहीं करुण मार्मिकता का समावेश है। संवाद संक्षिप्त तथा अनावश्यक विस्तार से रहित होने के कारण अत्यन्त नाटकोपयोगी तथा प्रभावोत्पादक बन गए हैं। प्रथम अंक के प्रारम्भिक अंश में कथोपकथन अधिक है और 'कार्य' प्रायः नगण्य है। दूसरे अंक में संवाद भावावेश और नाटकीय गति के वाहन हैं। तृतीय अंक के संवादों में काव्य-सुलभ सुकोमलता अधिक है। पात्रों की वेष-भूषा और उनके सही चरित्रांकन के प्रति नाटककार पर्याप्त सचेत है। इसके लिए उसने रंग-निर्देश तथा परिशिष्ट (१) द्वारा अपनी चरित्र-परिकल्पना को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के दूसरे नाटक शारदीया की पृष्ठभूमि १८वीं शताब्दी के मराठा इतिहास से सम्बद्ध है परन्तु कोणार्क की भांति इसकी भी मूल-भाव-वस्तु कलाकार और उसके प्रेरणा-स्रोतों का परिवेश के साथ समन्वय ही है। कलाकार और उसके विभिन्न बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्धों में उलझाव इस नाटक को सम-कालीन हिन्दी साहित्य की अन्य सृजनात्मक विधाओं से तो जोड़ता ही है, साथ ही नाटक को मनोरंजन का साधनमात्र मानने की बजाय उसे एक गहरे स्तर पर महत्व-पूर्ण सृजनात्मक कार्य-कलाप का स्थान भी प्रदान करता है। इसके पात्रों की परि-कल्पना और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में तीव्रता, विविधता और संयम काफी अधिक है तथा अनावश्यक पक्षों में उलझाव भी प्रायः कम है। परन्तु मराठा इतिहास की

१. आ० हि० ना० म० अ० : पृ० ३२४

२. देखिए : कोणार्क : पृ० ७१ (विशु के संवाद)

मन्ष का प्रारम्भ है। दूसरे में, महामात्य (राज
मन की सूचना मन्दिर का दुर्ग में बदलना तथा (
का सामना करने की घोषणा है। तृतीय अंक में
बाद अन्तिम उपाय के रूप में विशु द्वारा गुम्बक
मूर्ति को गिराना और मन्दिर का गिरना चित्रित
और ये सभी पात्र हिन्दी नाटक जगत् की अपूर्व
उपस्थित करते हैं। मंदिर का निर्माण लगभग पूर
प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही है। समस्या है पुराने
उत्तराधिकारी की।' विशु और धर्मपद के चरित्र
मानस में कुण्डली मार कर सोये, पौरुष-नाग की
के सम्मोहन में अपने को भूल जाने वाले कलाका
वाणी देने का सफल प्रयास किया है। शिल्पी वि
निधित्व करते हैं नाटक के इन चरित्रों में भावना
की अनेक स्थितियां अत्यन्त सुन्दरता से प्रदर्शित क
भावुकतापूर्ण स्थितियां भी आ गई हैं; परन्तु विशु
में बह जाना दोष नहीं माना जा सकता। विशु, मुकु
कलाकार की उस चेतना के प्रतीक हैं, जो जीवन
एकान्त साधना के पक्षपाती हैं (अप्रत्यक्ष रूप से
नाटककार के प्रतीक) जबकि धर्मपद जीवन के अ

करने के लिए, भोजन और युद्ध करने के लिए आदेश मिलते रहने चाहिएं, चाहे वे छोटे ही क्यों न हों। परन्तु इनका वार्तालाप पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान को सुगम बनाने और कथा के वेग को कुछ विश्राम देने की एक चातुरी से अधिक और कोई नाट्य-प्रयोजन नहीं पूरा करता।[1] इन्हें वही काम सौंपा गया है जो कथा-गायक करते हैं और नाटक के कुछ दूसरे पात्र भी करते हैं। ये अपने स्वरूप में बहुत कुछ ग्रीक कोरस के समान हैं। इनका केवल एक ही चेहरा है—व्याख्याकार का चेहरा। यद्यपि नाटककार मानता है कि उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है।"[2] कारण कुछ भी हो, वे नाटकीय पात्र नहीं बन पाते। भागवत के अनुसार कृष्ण के वधकर्ता का नाम 'जरा' था, लेखक ने अपने नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसे वृद्ध याचक की प्रेत-छाया मान लेने की स्वतन्त्रता ले ली है। लगभग सभी प्रमुख पात्रों में मानव की अन्तश्चेतना तथा उसके मन व्यापारों, मनोभावों, अतृप्तेच्छाओं एवं मानसिक घात-प्रतिघातों का सनिमय एवं द्वन्द्वात्मक चित्रण इसमें किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अंधा-युग के पात्रों की वृत्ति अन्तर्मुखी है, जो मानसिक जटिलताओं, अनैक्य, आन्तरिक भेद-भाव, असन्तोष, घातक तृष्णा, नैराश्यपूर्ण आकांक्षाओं, मनोविकृति प्रतिरोध-ग्रन्थि और अहंवाद से ओत प्रोत है।[3]

अंधायुग के श्रीकृष्ण मर्यादा तथा दायित्व के प्रतीक हैं, निर्भय तथा मुक्त आचरण के प्रतिष्ठापक हैं। वे 'प्रभु' हैं अवश्य, पर उनकी अनासक्त कर्म-पद्धति स्वयं उनसे भी बड़ी है। इतिहास नियन्ता इस कृष्ण का चरित्रांकन गीता से काफी अधिक प्रभावित है परन्तु इसे मानवतावादी धरातल पर प्रतिष्ठित करना नाटककार के आधुनिक युग-बोध का परिचायक है। कृष्ण समस्त मानवता और कवि की अजेय, अटूट आस्था के प्रतीक हैं। इस गीति-नाट्य के अधिकांश पात्रों-युयुत्सु,संजय, गान्धारी, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा आदि सभी में भयानक मानसिक द्वन्द्व विद्यमान हैं आस्था का प्रश्न नाटककार ने संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से प्रस्तुत किया है तथा अनास्था को आस्था की आवश्यक भूमिका के रूप में स्वीकार किया है। आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु का है। निश्चित परिपाटी से पृथक होकर अपना पथ आप निर्धारित करने वाले इस चरित्र में आज के मानव की पीड़ा और यातना साकार हो उठी है। युयुत्सु आधुनिक आचरण के विभ्रमों का प्रतीक है, जिसका अन्तिम निष्कर्ष है—

---

१. डा० सुरेश अवस्थी : विवेक के रंग : पृ० ३६६

२ अंधायुग (निर्देश), पृ० ४

३. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० गणेशदत्त गौड, पृ०३६२

जिन घटनाओं को लेखक ने केवल पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करना चाहा है, अपनी प्रबलता और तीव्र नाटकीय सम्भावनाओं के कारण वेही प्रधान हो गई हैं। विशेषकर शर्जेराव के चरित्र में इतनी शक्ति और गति है कि नरसिंहराव (केन्द्रीय चरित्र) उसके पीछे घिसटता-सा जान पड़ने लगता है। नरसिंहराव को, बल्कि पंचतोलिया साड़ी के उस अज्ञात स्रष्टा और उसकी समस्या को, अपेक्षाकृत किसी कम नाटकीय पृष्ठभूमि में रखकर ही उसका ठीक-ठीक अन्वेषण हो सकता था।[1] इसकी भाषा में अधिक नाटकीयता है, बोलचाल के साथ काव्यात्मक तथा अभिव्यंजनापूर्ण भाषा का सहज समन्वय है। संवाद चरित्रोद्घाटक और प्रभावशाली है। नाट्य-वस्तु के सम्प्रेषण में विभिन्न-बिम्बों का सुन्दर उपयोग किया गया है। शर्जेराव और नरसिंहराव के चरित्रों के परस्पर असंतुलन के परिणाम-स्वरूप 'शारदीया' के रूपबन्ध में भी संतुलन बिगड़ गया है और नाटक में वह कसाव नहीं आ पाया जिसकी अपेक्षा थी।

डा० धर्मवीर भारती

इन दोनों नाटकों के मध्य-काल में अन्य अनेक महत्वपूर्ण नाटकों का प्रकाशन और प्रदर्शन हुआ। इस की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक अंधा-युग। महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आधार लेकर इस नाटक में युद्धोपरान्त उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक समस्याओं का मानवीय स्तर पर विवेचन किया गया है। पांच अंकों की इस नाट्य रचना में भारती ने पौराणिक-पात्रों की मौलिक संकल्पनाओं द्वारा युद्ध से उत्पन्न होने वाली मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति, कुण्ठा और वैयक्तिक तथा सामूहिक विघटन का सजीव चित्रण किया है। निःसन्देह 'यह कथा उन्हीं अन्धों की है' परन्तु मूलतः—

'यह कथा ज्योति की ही है अन्धों के माध्यम से...।'[2]

अंधा-युग में दो कथा-गायकों (एक स्त्री, एक पुरुष) और दो प्रहरियों के अतिरिक्त चौदह पात्र हैं। दृश्य-परिवर्तन या अंक-परिवर्तन के लिए कथा-गायन की योजना की गई है। कथानक की जो घटनाएं मंच पर नहीं दिखाई जातीं, उनकी सूचना देने, किसी पात्र के कृत्य-विशेष अथवा चरित्र के किसी विशिष्ट पहलू के उद्घाटन या वातावरण की मार्मिकता को गहनतर बनाने अथवा कहीं-कहीं प्रतीकात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए इन कथागायकों की नियोजना की गई है। इनके अतिरिक्त स्वकल्पित पात्रों में प्रहरी आते हैं जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएं देते चलते हैं। 'अंधा-युग' के प्रहरी प्रजा की मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब भी करते हैं। कोई राजा हो, कोई सत्ता हो, उन्हें क्या? उन्हें तो पेट

1. नेमिचन्द्र जैन— आलोचना (जुलाई-सितम्बर १९६७), पृ० ६३
2. अंधा-युग : पृ० १०

भरने के लिए भोजन और युद्ध करने के लिए आदेश मिलते रहने चाहिएं, चाहे वे घटे ही क्यों न हों। परन्तु इनका वार्तालाप पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान को सुगम बनाने और कथा के वेग को कुछ विश्राम देने की एक चातुरी से अधिक और कोई नाट्य-प्रयोजन नहीं पूरा करता।[1] इन्हें वही काम सौंपा गया है जो कथा-गायक करते हैं और नाटक के कुछ दूसरे पात्र भी करते हैं। ये अपने स्वरूप में बहुत कुछ ग्रीक कोरस के समान हैं। इनका केवल एक ही चेहरा है—व्याख्याकार का चेहरा। यद्यपि नाटककार मानता है कि उनका अपना प्रतीकात्मक महत्व भी है।[2] कारण कुछ भी हो, वे नाटकीय पात्र नहीं बन पाते। भागवत के अनुसार कृष्ण के वधकर्ता का नाम 'जरा' था, लेखक ने अपने नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसे वृद्ध याचक की प्रेत-छाया मान लेने की स्वतन्त्रता ले ली है। लगभग सभी प्रमुख पात्रों मे मानव की अन्तश्चेतना तथा उसके मन व्यापारों, मनोभावों, अतृप्तेच्छाओं एवं मानसिक घात-प्रतिघातों का गतिमय एवं द्वन्द्वात्मक चित्रण इसमें किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अंधा-युग के पात्रों की वृत्ति अन्तर्मुखी है, जो मानसिक जटिलताओं, अनैक्य, आन्तरिक भेद-भाव, असतोष, घातक तृष्णा, नैराश्यपूर्ण भावदशाओं, मनोविकृति प्रतिशोध-ग्रन्थि और अहंवाद से ओत प्रोत है।[3]

अंधायुग के श्रीकृष्ण मर्यादा तथा दायित्व के प्रतीक हैं, निर्मम तथा मुक्त आचरण के प्रतिष्ठापक हैं। वे 'प्रभु' हैं अवश्य, पर उनकी अनासक्त कर्म-पद्धति स्वय उनमे भी बढी है। इतिहास नियन्ता इस कृष्ण का चरित्रांकन गीता मे काफी अधिक प्रभावित है परन्तु इसे मानवतावादी धरातल पर प्रतिष्ठित करना नाटककार के आधुनिक युग-बोध का परिचायक है। कृष्ण समस्त मानवता और कवि की अजेय, अटूट आस्था के प्रतीक है। इस गीति-नाट्य के अधिकांश पात्रों-युयुत्सु,संजय, गान्धारी, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा आदि सभी मे भयानक मानसिक द्वन्द्व विद्यमान हैं आस्था का प्रश्न नाटककार ने संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा के माध्यम से प्रस्तुत किया है तथा अनास्था को आस्था की आवश्यक भूमिका के रूप मे स्वीकार किया है। आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु का है। निश्चित परिपाटी से पृथक होकर अपना पथ आप निर्धारित करने वाले इस चरित्र मे आज के मानव की पीडा और यातना साकार हो उठी है। युयुत्सु आधुनिक आचरण के विभ्रमो का प्रतीक है, जिसका अन्तिम निष्कर्ष है—

---

१. डा० सुरेश अवस्थी : विवेक के रंग : पृ० ३६६

२. अंधायुग (निर्देश), पृ० ४

३. आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० गणेशदत्त गौड, पृ०३६२

"अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।"[1]

उसके मन का यह द्वन्द्व प्रेतावस्था में भी शान्त नहीं होता। वह अट्टहास
करके आस्था को घिसा हुआ सिक्का बताता है परन्तु अन्ततः मानव-भविष्य में अपनी
आस्था को प्रतिष्ठित करता है। युधिष्ठिर के अर्द्ध-सत्य ने अश्वत्थामा की आस्था
को इस तरह कुण्ठित कर दिया है कि उसके मन में एक विचित्र मनोग्रन्थि पैदा हो
गई है, जिसे सुलझाने का वह जितना ही अधिक प्रयास करता है वह उतनी ही अधिक
उलझती जाती है। उसके मन में आशा, निराशा, क्षोभ,ग्लानि और कुण्ठाओं
के अनेक सूत्र बुरी तरह उलझ गए हैं। वह प्रतिहिंसक-पशुत्व और 'न्युराटिक युद्ध-
लिप्सा का प्रतीक बन गया है। यद्यपि वध उसकी नीति नहीं' मनोग्रन्थि है। संहार
से उसे मानसिक तृप्ति मिलती है। डा० श्रीपति त्रिपाठी इस नाटक पर इलियट
के वेस्टलैंड का प्रभाव मानते है।[2] और नाटक के अन्त में युयुत्सु, गांधारी, धृतराष्ट्र
तथा युधिष्ठिर की आत्महत्या पर ओ नील एवं सार्त्र का।[3] डा० बच्चनसिंह का
विचार है कि महाभारत के अधिकांश पात्र असाधारण हैं। उनके साथ जो कथाएं
चलती हैं, ये उन्हें मिथक बना देती हैं। अंधायुग के धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु, अश्व-
त्थामा आदि अपने नाम और काम दोनों से मिथक हैं। स्मरण रखना चाहिये कि ये न
आदिम मिथक है और न उपनिषद् कालीन हैं। इन्हें ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति
की फलश्रुति कहा जा सकता है। इसलिए उन्हें आज की ह्रासोन्मुखी मूल्यहीन संस्कृति
में सार्थक ढंग से सन्दर्भित किया जा सकता है। आज के सन्दर्भ में उनका अर्थांयन
गहरे अर्थ में मनोवैज्ञानिक है। इसकी संरचना में उसने जो 'माइथोमोहक' दृष्टिकोण
प्रयुक्त किया है, वह उसे मिथकीय अन्विति और पूर्णता देती है। .. प्रभु की मृत्यु
भी एक प्रकार का मिथक है। इस मिथक के आधार पर नीत्से के उस सत्य को ..
ईश्वर मर गया है—स्वर दिया गया है, लेकिन यह नीत्शे के स्वर से अलग है। फिर
भी उससे एक मानवीय आस्था का उदय होता है, क्योंकि प्रभु का दायित्व लोगों ने
ले लिया है।[1] जिन लोगों का दायित्व प्रभु पर है वे संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा
की तरह निष्क्रिय, आत्मघाती और विकलांग होंगे। इसका मिथकीय समापन 'दायित्व'
के नये मूल्य-बोध की ओर इंगित करता है। यह दायित्व स्वयं व्यक्ति का है। व्यक्ति
और दायित्व के बीच प्रभु को खड़ा होने की आवश्यकता नहीं है।[4]

---

१. अंधा-युग पृ० ५७
२. हि०ना०पा०प्र०-पृ० ३६७
३. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० ३६७
४. पुराने मिथक : आधुनिक प्रयोग — डा० बच्चन सिंह
(धर्मयुग : ७ जनवरी, १९६८, पृ० ५२)

कुछ विद्वान 'महान् ग्रन्थों से आए हुए चरित्रों को मनमाने ढंग से प्रयुक्त करने के लिए नाटककार को दोषी मानते हैं। उनका विचार है कि केवल एक ही पात्र, अर्थात् कृष्ण, इस कृति में महच्चरित्र के रूप में उपस्थित हुए हैं, जिनके प्रति कवि की स्पष्ट आस्था दिखाई देती है। कृष्ण को स्वीकार कर शेष सबको अस्वीकार करना—अर्द्धसत्य से अधिक कुछ नहीं है क्योंकि महाभारत में कृष्ण के महान् अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है। यद्यपि लेखक ने उन अन्य पात्रों को अपनी इस सीमित नाट्य-कृति में नहीं आने दिया है, फिर भी पाठक के संस्कारों को वे बार-बार कचोटते रहते हैं और भारती जी की सारी दार्शनिकता के बावजूद भारतीय संस्कार उससे प्रभावित नहीं हो पाते।'[1] ऐसे विद्वानों और भारतीय संस्कार वाले पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि 'अंधा-युग' में नाटककार ने महाभारत का पुनरन्वेषण किया है, यह कोई धार्मिक पुस्तक अथवा महाभारत के किसी प्रसंग विशेष का नाट्य-रूपान्तर मात्र नहीं है।

यह सत्य है कि 'अंधायुग' के किसी भी पात्र का चरित्र नितान्त उज्ज्वल, निर्मल नहीं है। पतिव्रता गान्धारी, धर्मराज युधिष्ठिर तथा मर्यादा रक्षक श्रीकृष्ण सभी के व्यक्तित्वों में कहीं न कहीं धब्बा अवश्य है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्ततः वे सब मानवीय विकास के विभिन्न स्तरों को प्रदर्शित करते हैं। हमारी दृष्टि में यह भारती की सीमा नहीं सामर्थ्य है कि वह पौराणिक कथानक और पात्रों को लेकर उनका तीव्र चरित्रांकन करके अपने युग के प्रति इतना गहरा 'कन्सर्न' प्रदर्शित कर सके। समसामयिकता के गम्भीर दायित्व का पूर्ण निर्वाह इस कृति में हुआ है।

ऐसा नहीं है कि चरित्र-सृष्टि के स्तर से यह कृति सर्वथा निर्दोष है। अश्वत्थामा और कृष्ण को नाटककार ने कुछ इस प्रकार से आमने-सामने और बराबरी के साथ रखा है कि अन्तिम परिणति में अकस्मात् भागवत् के रंग का विस्तार कुछ अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। युधिष्ठिर के अर्द्ध-सत्य की मीमांसा करते हुए लेखक की सहानुभूति बहुत दूर तक अश्वत्थामा के साथ दिखाई देती है। इस सहानुभूति के कारण ही यह चरित्र सबसे अधिक जीवन्त तथा सशक्त बन पड़ा है। 'अंधा-युग' की प्रायः सभी समस्याओं का वह केन्द्र-बिन्दु है, और प्रस्तुत दृश्य-काव्य के समापन तक उसका चरित्र बराबर निखरता गया है।[2]

नाटकीय कथा वस्तु का ताना-बाना प्राचीन कथा-पद्धति के अनुरूप वक्ता-श्रोता शैली में बुने जाने के कारण प्रायः सभी अंकों में एक न एक पात्र वक्ता का कार्य

---

१ नयी कविता के प्रबंध या खण्ड काव्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
—(धर्मयुग : १३ अगस्त, १९६७, पृ० १९)

२. हिन्दी नवलेखन—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १२

करने लगता है और दूसरे पात्र गौण बनकर अपने प्रश्नों, जिज्ञासाओं और टीकाओं से नाटक को आगे बढ़ाते हैं। इस संरचना का ही परिणाम है कि नाटक के पात्र वस्तु-व्यापार के जीवन्त कर्ता-भोक्ता नहीं लगते। वे सबके सब जैसे अपनी उक्तियों, और संस्मरणों, टीकाओं, नैतिक व्याख्याओं और प्रतिशोध-पश्चाताप के भाव-प्रदर्शनों द्वारा कथावस्तु [illegible] करते हैं। ऐसा बोध होता है कि पात्र नाटकीय क्रिया व्यापार से अलग खड़े हैं, न उसमें नियोजित हैं न उससे निर्मित हैं।'[1]

निःसन्देह 'अंधा-युग' की भाषा, उसका काव्य नई-कविता की शक्ति के द्योतक हैं, परन्तु कहीं-कहीं सघन नाट्य-परिस्थितियों का चित्रण करने में मुक्त-छन्द समर्थ नहीं हो पाता और लगता है जैसे पात्र अपनी बात पूरी तरह नहीं कह पा रहे—वे जैसे अपने कथन से स्वयं संतुष्ट और तृप्त नहीं हैं। इसके संवादों में विशिष्ट स्वभाव वाले पात्रों की पात्रता और निजता प्रकट कर पाने की भी प्रभावशाली क्षमता नहीं है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर सन् ६० तक के नाटकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक भवर (१९५०), अलग-अलग रास्ते (१९५३), अंजो दीदी (१९५४) और अंधी गली (१९५६) महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं परन्तु 'अश्क' की चरित्र-सृष्टि का विश्लेषण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए हम अब अन्य महत्वपूर्ण प्रयोगधर्मी नाटकों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

स्वतन्त्रता के उपरान्त, परम्परा को आत्मसात् करके और पश्चिमी नाट्य-साहित्य के गम्भीर और महत्वपूर्ण तत्वों को गहरे में पचा कर, हिन्दी नाटक के लिए नवीन राहों का अन्वेषण करने वालों में डा० लक्ष्मीनारायण लाल का महत्वपूर्ण स्थान है। अंधा कुआं डा० लाल का प्रथम नाटक है। ग्रामीण जीवन के परिवेश में आर्थिक विपन्नता के कारण उत्पन्न होने वाले सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटककार ने इसमें प्रस्तुत किया है। भगौती नाटक का प्रधान पात्र है। जीवन की कठोरताओं और कटुताओं ने उसे क्रूर और उदण्ड बना दिया है। उसके चरित्र में काम-प्रवृत्ति की प्रबलता है। स्पष्टवादिता उसकी विशेषता है। इसी परिवेश ने 'सूका' को सहनशील, साहसी, निःस्वार्थी, त्यागी, सुशील और विनम्र बनाया है। उसे रखैल, भगैल और चुडैल जैसे विशेषण दिए गए हैं। पति के पाशविक व्यवहार के बावजूद वह इन्दर के साथ भागना नहीं चाहती। इन्दर के यह कहने पर कि भगौती तुम्हें मार डालेगा, वह टका सा उत्तर देती है, 'तुमसे मतलब, वह मेरा पति है, मुझे मार डालेगा तो क्या, मुझे मंजूर है वह उसकी मार, उसकी लातें और कमालपुर, कुएं, नदी, नाले सब। लेकिन किसी भी हालत में तू नहीं,

१. डा० सुरेश अवस्थी —विवेक के रंग, पृ० ३९४-९५

है और प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि दिवाकर से विवाह ही करती है अपितु अरविंद की कला पर विस्तृत लेख लिखकर चित्रकला की अपनी पकड़ और समझ का प्रमाण देकर अरविंद को चुनौती भी देती है। 'आनन्दा' अरविंद की सहधर्मी मित्र है— अवस्था अट्ठाईस-तीस-वर्ष—व्यक्तित्व पर सुन्दर अभिजात्य के संस्कार। आधुनिक, पर स्वभाव से विशुद्ध भारतीय नारी। सुन्दर और आकर्षक होने के साथ-साथ प्रभावशाली और शालीन। वह प्रतिदिन आने जाने अपने बुखार को अरविन्द से छुपाती रहती है और खांसी को भी मजाक में टाल देती है। अपने क्षय-रोग की आन्तरिक वेदना को सतरंगे रंगों से सजाकर वह कागज पर उतारती रहती है और अरविंद को प्रेरणा देती है—नूतन चित्रों के सृजन की।

'सुधीर' आनन्दा का छोटा भाई है, उम्र पच्चीस वर्ष के आसपास। स्वभाव से एक ओर 'बेबी' है तो दूसरी ओर बुजुर्ग। प्रकृति से आक्रामक, मुंह-फट, बातूनी और जिद्दी। वह नाटक का एक सामान्य पात्र ही नहीं 'सूत्रधार' और उद्घोषक भी है। उसके चरित्र में एक गतिशीलता और तेजी है। दद्दाजी, अरविन्द के पिता हैं जो चाहते हैं कि अरविन्द स्वप्नों की दुनियां छोड़कर यथार्थ जीवन जीए और आनन्दा से विवाह कर ले। डाक्टर पापा आनन्दा और सुधीर के पिता हैं। गंगाराम नौकर है—विश्वासी और परिवार का अभिन्न अंग।

व्यक्तित्व को संघटित बनाए रखने की चिन्ता आधुनिक है। परन्तु अरविन्द नारी सम्पर्क को मूल व्यक्तित्व के ऊपर आरोपित मानता है और इसलिए उसे अवाछनीय समझता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी-संसर्ग की तीव्र लालसा उसे वंशानुक्रम से प्राप्त हुई है परन्तु 'विवाह' के प्रति उसके मन में एक भय समा गया है। दद्दा से उसका यह कथन इसका प्रमाण है—

"मैं फिर विवाह नहीं करना चाहता। आपने तीन विवाह किए थे। मां के स्वर्गवास के चार ही महीने बाद आपने दूसरी शादी की थी उसे हंटरों से मारते थे आप। फिर उसी के सीने पर आपने तीसरी शादी भी की। भाग्यवश एक-एक करके दोनों मर गई।"[1]

सूक्ष्मरूप से देखने पर ज्ञात होता है कि अरविन्द अपने पिता का ही सच्चा प्रतिरूप है। वह सुजाता से विवाह करता है। शारीरिक पीड़ा न सही, व्यंग्य बाणों से वह उसे हंटरों से कम यातना नहीं देता। उसके जाते ही आनन्दा से सम्पर्क और 'भाग्यवश' (क्योंकि दद्दा और डाक्टर पापा के व्यवहार से उसे लगने लगा है कि शायद उसे आनन्दा से विवाह करना ही पड़े) आनन्दा का भी क्षय-रोग ग्रस्त हो जाना, धरातल पर उसी की पुनरावृत्ति है। वह न तो नारी के बिना रह सकता है ...के साथ। उसकी काम-भावना का उन्नयन ही उसके कलाकार होने का परन्तु कलाकार के सतही दृष्टिकोण से उद्भूत कृत्रिमता आनन्दा के जीवन-

1. वही ...पृ० ४८.

रस को सोख लेती है, मादा-कैक्टस सूख जाती है। वनस्पति शास्त्र की इस जन-श्रुति को मानवीय सन्दर्भों में उल्टा सिद्ध करके नाटककार ने मानो प्राणिजगत् की संवेदन-शीलता को वैज्ञानिक पद्धतियों से भिन्न ठहराया है। व्यक्तित्व की सम्पूर्णता में से नारी को अलग हटाकर अरविन्द ने जिन प्राकृतिक शक्तियों की अवहेलना की है, वे नाटककार की दृष्टि से अनिवार्य अतः स्वीकार्य हैं।[1] सम्पूर्णता की व्यंजना अरविन्द और वेबी के बीच में है। ये दोनों ही चरित्र एक दूसरे के एण्टी-थीसिस हैं। अन्त में आनन्दा के फेफड़ों का चित्र सारे नाटक में एक करुणा और विषाद की लहर सी दौड़ा देता है।

सभी चरित्रों की रूपरेखा अत्यन्त सुस्पष्ट और पुष्ट है।, नाटककार ने प्रत्येक पात्र को उसका चारित्र्य प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। यह सम्भवतः हिन्दी का प्रथम नाटक है जिसमें चरित्रांकन के लिए प्रतीक, संगीत और प्रकाश का इतना अधिक सार्थक प्रयोग किया गया है। 'प्रकाश-व्यवस्था' का पात्रों की मनःस्थिति के उद्‌घाटन के लिए ऐसा प्रयोग पहले नहीं हुआ—नीली दूधिया रोशनी के चारों ओर जो कुहरा जमा है, सारे पात्र उस परिधि में आ फंसे हैं और सब उससे अपनी मुक्ति चाह रहे हैं।[2] अथवा 'सदा हल्का दूधिया' नीला प्रकाश वह भी आनन्द सुजाता की उपस्थिति के समय बिखर जाता है, जैसे रोशनी कहीं से अब टूट-टूट कर, कट-कटकर आ रही हो।[3] जैसे निर्देश पात्रों के स्वरूप और उनकी मनःस्थितियों को मंच पर उजागर करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे। अनाथालय के बच्चों का प्रवेश अरविन्द के व्यक्तित्व पर एक 'कमेंट' करता है। शिल्प के प्रायः सभी उपकरण चरित्रांकन के लिए अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। इस नाटक के सभी पात्र बोलते कम और कहते अधिक हैं। पात्रों के इस प्रखर चरित्रांकन के कारण ही नाटक में इतना गठन और कसाव आ गया है, जिसके बिना निस्सन्देह सुधीर की मुट्ठी में कसी हुई चीज बिखर जाती और नाटक अपनी अन्तिम प्रभावशीलता में कमजोर हो जाता। अतः हम कह सकते हैं कि चरित्र-सृष्टि के धरातल से **मादा कैक्टस** हिन्दी नाटक की एक उपलब्धि है। लेखक ने सभी पात्रों के चित्रण में एक रागात्मक तटस्थता का परिचय दिया जो हिन्दी नाटक के लिए नितान्त नई चीज है।

नरेश मेहता

इसी दौर के दो अन्य महत्वपूर्ण नाटक हैं—नरेश मेहता का **सुबह के घंटे** तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा का **आदमी का जहर**, **मादा कैक्टस** की ही भांति इनमें भी कलाकार के व्यक्तित्व-संघटन की समस्या उठाई गई है। **सुबह के घंटे** का

१. हिन्दी नवलेखन—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १४४.
२. मादा-कैक्टस—निर्देश, पृ० १५
३. वही, पृ० १४.

है और प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि दिवाकर से विवाह ही करती है अपितु अरविंद की कला पर विस्तृत लेख लिखकर चित्रकला की अपनी पकड़ और समझ का प्रमाण देकर अरविंद को चुनौती भी देती है। 'आनन्दा' अरविंद की सहधर्मी मित्र है—अवस्था अट्ठाईस-तीस-वर्ष—व्यक्तित्व पर सुन्दर अभिजात्य के संस्कार। आधुनिक, पर स्वभाव से विशुद्ध भारतीय नारी। सुन्दर और आकर्षक होने के साथ-साथ प्रभावशाली और शालीन। वह प्रतिदिन आने वाले अपने बुखार को अरविन्द से छुपाती रहती है और खांसी को भी मजाक में टाल देती है। अपने क्षय-रोग की आन्तरिक वेदना को सतरंगे रंगों से सजाकर वह कागज पर उतारती रहती है और अरविंद को प्रेरणा देती है—नूतन चित्रों के सृजन की।

'सुधीर' आनन्दा का छोटा भाई है, उम्र पच्चीस वर्ष के आसपास। स्वभाव से एक ओर 'बेबी' है तो दूसरी ओर बुजुर्ग। प्रकृति से आक्रामक, मुंह-फट, बातूनी और ज़िद्दी। वह नाटक का एक सामान्य पात्र ही नहीं 'सूत्रधार' और उद्घोषक भी है। उसके चरित्र में एक गतिशीलता और तेजी है। दद्दाजी, अरविन्द के पिता हैं जो चाहते हैं कि अरविन्द स्वप्नों की दुनियां छोड़कर यथार्थ जीवन जीए और आनन्दा से विवाह कर ले। डाक्टर पापा आनन्दा और सुधीर के पिता हैं। गंगाराम नौकर है—विश्वासी और परिवार का अभिन्न अंग।

व्यक्तित्व को संघटित बनाए रखने की चिन्ता आधुनिक है। परन्तु अरविन्द नारी सम्पर्क को मूल व्यक्तित्व के ऊपर आरोपित मानता है और इसलिए उसे अवाञ्छनीय समझता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी-संसर्ग की तीव्र लालसा उसे वंशानुक्रम से प्राप्त हुई है परन्तु 'विवाह' के प्रति उसके मन में एक भय समा गया है। दद्दा से उसका यह कथन इसका प्रमाण है—

"मैं फिर विवाह नहीं करना चाहता। आपने तीन विवाह किए थे। मां के स्वर्गवास के चार ही महीने बाद आपने दूसरी शादी की थी उसे हंटरों से मारते थे आप। फिर उसी के सीने पर आपने तीसरी शादी भी की। भाग्यवश एक-एक करके दोनों मर गईं।"[1]

सूक्ष्मरूप से देखने पर ज्ञात होता है कि अरविन्द अपने पिता का ही सच्चा प्रतिरूप है। वह सुजाता से विवाह करता है। शारीरिक पीड़ा न सही, व्यंग्य बाणों से वह उसे हंटरों से कम यातना नहीं देता। उसके जाते ही आनन्दा से सम्पर्क और 'भाग्यवश' (क्योंकि दद्दा और डाक्टर पापा के व्यवहार से उसे लगने लगा है कि शायद उसे आनन्दा से विवाह करना ही पड़े) आनन्दा का भी क्षय-रोग ग्रस्त हो जाना, एक दूसरे धरातल पर उसी की पुनरावृत्ति है। वह न तो नारी के बिना रह सकता है और न नारी के साथ। उसकी काम-भावना का उन्नयन ही उसके कलाकार होने का रहस्य है। परन्तु कलाकार के सनकी दृष्टिकोण से उद्भूत हीनता आनन्दा के जीवन-

१. मादा कैक्टस...पृ० ४८.

रस को सोख लेती है, मादा-कैक्टस सूख जाती है। वनस्पति शास्त्र की इस जन-श्रुति को मानवीय सन्दर्भों में उल्टा सिद्ध करके नाटककार ने मानो प्राणिजगत् की संवेदनशीलता को वैज्ञानिक पद्धतियों से भिन्न ठहराया है। व्यक्तित्व की सम्पूर्णता में से नारी को अलग हटाकर अरविन्द ने जिन प्राकृतिक शक्तियों की अवहेलना की है, वे नाटककार की दृष्टि से अनिवार्य अतः स्वीकार्य हैं।[1] सम्पूर्णता की व्यंजना अरविन्द और बेबी के बीच में है। ये दोनों ही चरित्र एक दूसरे के एण्टी-थीसिस हैं। अन्त में आनन्दा के फेफड़ों का चित्र सारे नाटक में एक करुणा और विषाद की लहर सी दौड़ा देता है।

सभी चरित्रों की रूपरेखा अत्यन्त सुस्पष्ट और पुष्ट है।, नाटककार ने प्रत्येक पात्र को उसका चारित्र्य प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। यह सम्भवतः हिन्दी का प्रथम नाटक है जिसमें चरित्रांकन के लिए प्रतीक, संगीत और प्रकाश का इतना अधिक सार्थक प्रयोग किया गया है। 'प्रकाश-व्यवस्था' का पात्रों की मन स्थिति के उद्‌घाटन के लिए ऐसा प्रयोग पहले नहीं हुआ – नीली दूधिया रोशनी के चारों ओर जो कुहरा जमा है, सारे पात्र उस परिधि में आ फंसे हैं और सब उससे अपनी मुक्ति चाह रहे हैं।[1] अथवा 'सदा हल्का दूधिया' नीला प्रकाश वह भी आनन्द सुजाता की उपस्थिति के समय बिखर जाता है, जैसे रोशनी वहीं से अब टूट-टूट कर, कट-कटकर आ रही हो।[1] जैसे निर्देश पात्रों के स्वरूप और उनकी मन स्थितियों को मंच पर उजागर करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे। अनाथालय के बच्चों का प्रवेश अरविन्द के व्यक्तित्व पर एक 'कमेंट' करता है। शिल्प के प्रायः सभी उपकरण चरित्रांकन के लिए अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। इस नाटक के सभी पात्र बोलते कम और कहते अधिक हैं। पात्रों के इस प्रखर चरित्रांकन के कारण ही नाटक में इतना गठन और कसाव आ गया है, जिसके बिना निस्सन्देह सुधीर की मुट्ठी में कसी हुई चीज बिखर जाती और नाटक अपनी अन्तिम प्रभावशीलता में कमजोर हो जाता। अतः हम कह सकते है कि चरित्र-सृष्टि के धरातल से **मादा कैक्टस** हिन्दी नाटक की एक उपलब्धि है। लेखक ने सभी पात्रों के चित्रण में एक रागात्मक तन्मयता का परिचय दिया जो हिन्दी नाटक के लिए नितान्त नई चीज हैं।

नरेश मेहता

इसी दौर के दो अन्य महत्वपूर्ण नाटक है—नरेश मेहता का **सुबह के घंटे** तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा का **आदमी का जहर**, **मादा कैक्टस** की ही भांति इनमें भी कलाकार के व्यक्तित्व-संघटन की समस्या उठाई गई है। **सुबह के घंटे** का

१. हिन्दी नवलेखन – डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १४४.
२. मादा-कैक्टस—निर्देश, पृ० १५
३. वही, पृ० १४.

केन्द्रीय-पात्र एमन भी अरविन्द की तरह कलाकार है परन्तु इसके सामने नारी, प्रेम और कला की समस्या के अतिरिक्त राजनीति, सामाजिक व्यवस्था और नैतिकता की चिन्ता भी मुंह बाये खड़ी है । एमन कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य है, पर वह पार्टी को अपने स्वतंत्र-चिन्तन का मौलिक अधिकार नहीं सौंप सकता । दक्षिणा उसकी मित्र, प्रेयसी और पत्नी सभी कुछ है । क्रान्तिकारी और समाजवादी होते हुए भी यह मूलतः मानववादी है । वह जीवन को राजनीति नहीं नीति मान कर उसे पूजा की वस्तु समझता है । उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति देवता है । एमन सत्य को सम्पूर्ण और समग्र रूप में देखने का अभिलाषी है ।

लक्ष्मीकांत वर्मा

आदमी का जहर सम्पूर्ण नाटक और एकांकी के बीच की स्थिति है । इसका नायक शरन नाटक के मूल कार्य में अधिक स्थान नहीं पा सका है फिर भी अन्य पात्रों के माध्यम से नाटककार ने उसका चरित्रांकन काफी विस्तार से किया है । यह नाटक भी उसके प्रमुख-पात्र शरन के व्यक्तित्व-संघटन की चिन्ता का ही आख्यान है । शरन का ही प्रतिरूप है महिम, जो 'नाटक में नाटक' की शैली द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है । शरन के लिए अपने व्यक्तित्व-रक्षण की समस्या मूल समस्या नहीं है । वह तो जीवन के आधारभूत मूल्यों और प्रतिमानों के विषय में चिन्तित है । वह 'पशु रक्षिणी समिति' का संयोजक है परन्तु वह कुत्ते को काट लेने वाले जहरीले और पागल आदमी को अपने यहां आश्रय देता है । उसके साथी मित्र उसे लापरवाह और गैर-जिम्मेदार समझते हैं । शरन के समक्ष मूल्यों की प्राथमिकता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है । कुत्ते के लिए उसके मन में चिन्ता हो सकती है, पर मनुष्य को तो वह किसी भी मूल्य पर बचाना चाहता है । शरन के चरित्र की एक अधिक गहरी और सूक्ष्म संवेदना हमें महिम में मिलती है । दोनों चरित्र एक अविभाज्य व्यक्तित्व के अंग है । महिम की गिरी हुई आर्थिक स्थिति वर्ग-संघर्ष की भावना की अपेक्षा आत्म-बोध को ही अधिक जाग्रत करती है । यह नाटक आज की संस्कृति और सभ्यता पर करारा व्यंग्य करती है जिसमें पशु और मानव के बीच इतनी अधिक प्रतिद्वन्द्विता हो गई है ।

विष्णु प्रभाकर

इसी दौर में, विष्णु प्रभाकर का बहुचर्चित नाटक **डाक्टर** भी उल्लेखनीय है । इस मनोवैज्ञानिक नाटक की नायिका मधुलक्ष्मी का विवाह इन्जीनियर सतीश चन्द्र वर्मा से हुआ है । मधुलक्ष्मी पति से तिरस्कृत और परित्यक्त होकर आत्महीनता ग्रन्थि से ग्रसित और क्षतिपूर्ति की प्रतिक्रिया से अनुप्राणित होकर एक उच्चकोटि की लेडी डाक्टर—डा० अनीला – बन जाती है और अपना नर्सिंग होम स्थापित कर लेती है । उसके सामाजिक अहं ने अपनी आन्तरिक कचोट को शान्त करने के लिए

[illegible], [illegible], दया, [illegible], कर्तव्य [illegible] और आदर्श-[illegible] के [illegible] जिसकी [illegible] से उसकी [illegible] पर [illegible] [illegible], परन्तु उसकी [illegible] होकर [illegible] से [illegible] होकर [illegible] [illegible] । [illegible] और [illegible] और [illegible] के जीवन में एक [illegible] आ जाता है जब अनीला का पति अपनी दूसरी पत्नी और उस को लेकर वहां पहुँचता है। डा० अनीला के मन में प्रति-हिंसा की भावना और उसके डाक्टर होने के नाते उसकी कर्तव्य-भावना में अनवरत संघर्ष होता है। नाटक का अन्त आकस्मिक है क्योंकि न चाहते हुए भी अन्ततः टेबल पर आकर अनीला अपने निर्धारित कर्तव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती। प्रतिहिंसक मधुकरसी को डा० अनीला के हाथों पराजित होना पड़ता है।

अनीला के अतिरिक्त, सहायक डाक्टर नंदा और डा० अनीला के बड़े भाई 'दादा' के चरित्र भी नाटककार ने कुशलता से उभारे हैं। डा० केशव तो मानो अनीला की मनोग्रन्थियों का उद्घाटन कर उनका उपचार करने वाला मनोविश्लेषक ही है। चरित्रांकन में मनोविज्ञान का सूक्ष्म-विश्लेषण, भावनाओं की पकड़ और नाटकोचित संघर्षों का अन्वेषण स्पष्ट दृष्टिगत होता है। परन्तु मनोविश्लेषण-प्रधान होने के कारण नाटक में कार्यव्यापार की उतनी क्षिप्रता नहीं है जितनी विचारों की। रूप-बंध, रंग-धर्म और संवादों की दृष्टि से **डाक्टर** मंच की अपेक्षा रेडियो के अधिक निकट है। फिर भी तीव्र मनोभावों और मनोग्रन्थियों वाले पात्रों के मनो-वैज्ञानिक चरित्रांकन की दृष्टि से **डाक्टर** की चरित्र-सृष्टि का महत्वपूर्ण योग-दान है।

मोहन राकेश

कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा की समस्या को लेकर लिखा गया मोहन राकेश का नाटक स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। **आषाढ़ का एक दिन** की प्रत्यक्ष कथावस्तु तो कालिदास के अन्तरंग जीवन से सम्बन्धित है परन्तु मूलतः वह कवि के प्रसिद्ध होने के पहले की प्रेयसी मल्लिका का नाटक है– एक ऐसी समर्पित नारी की नियति का चित्र जो कवि से अटूट प्रेम ही नहीं करती, किसी भी मूल्य पर उसे महान होते भी देखना चाहती है। महान् वह बनता अवश्य है पर इसका मूल्य मल्लिका को अपना सर्वस्व देकर चुकाना पड़ता है। ऐतिहासिक कालिदास के साथ ही समकालीन मनुष्य के और भी अनेक आयाम इसमें हैं जो नाटक को एकाधिक स्तर पर सार्थक और रोचक बनाते हैं। उसका नाटकीय संघर्ष कला और प्रेम, सृजनशील व्यक्ति और परिवेश, भावना और कर्म, कलाकार और राज्य आदि कई स्तरों को छूता है। इसी प्रकार काल के आयाम को बड़ी रोचक तीव्रता के साथ नाटक में प्रस्तुत किया गया है—लगभग एक पात्र के रूप में। मल्लिका और उसके परिवेश और उसकी परिणति में तो वह मौजूद है ही,

स्वयं कालिदास भी उसके विघटनकारी रूप का अनुभव करता है। अपनी समस्त आत्मकेन्द्रिता के बावजूद उसे लगता है कि अपने परिवेश से टूट कर वह स्वयं भी भीतर कहीं टूट गया है।[1]

कालिदास की साहित्यिक-कृतियों को पढ़कर नाटककार के मन में कालिदास का जो चित्र उभरा, उसी को इसमें चित्रित किया गया है। उसकी ऐतिहासिकता की खोजबीन नाटक में भाई 'रंगिणी-संगिनी की शोध के ही समान निरर्थक और हास्यास्पद होगी। आधुनिक प्रतीक के निर्वाह के लिए ऐतिहासिक कालिदास के चरित्र में थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है। नाटककार के शब्दों में—'कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व में से गुजरना पड़ा था नहीं यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है, हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं। हो सकता है व्यक्ति कालिदास का यह नाम भी वास्तविक न हो, पर हमारी आज तक की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए इससे अच्छा दूसरा नाम दूसरा संकेत, मुझे नहीं मिला।'[2] लेखक ने कश्मीर के शासक मातृगुप्त और प्रसिद्ध कवि-नाटककार कालिदास को एक ही माना है।

नाटक में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनके आधार पर कालिदास को स्वार्थी आत्म-केन्द्रित और क्षुद्र व्यक्ति समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य की ओर से सम्मान और आमंत्रण मिलने पर, अनिच्छा होते भी अन्ततः वह उज्जैन चला ही जाता है, कभी विवाह न करने का विचार रखते हुए और मल्लिका से हार्दिक प्रेम करते भी वह प्रियंगुमंजरी से चुपचाप विवाह कर लेता है, कश्मीर का शासक बनने पर गांव में आकर भी मल्लिका से मिलने नहीं आता और अन्त में मल्लिका के जीवन की अत्यन्त करुण दुखद परिणति देखकर भी उसे चुपचाप छोड़कर भाग जाता है — ये कालिदास के चरित्र का कमजोर पक्ष है। निःसन्देह उसके व्यक्तित्व के इस पक्ष का चित्रण नाटक में होना स्वाभाविक ही है परन्तु मात्र यही एक पक्ष चित्रित करना और उसके महान् पक्ष को एकदम अछूता छोड़ देना उसकी असाधारण सृजनशील प्रतिभा को अधिक विश्वसनीय नहीं बना पाता और नाटककार का यह दावा कि आषाढ़ का एक दिन का कालिदास दुर्बल नहीं है; कोमल, अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है'[3] निराधार जान पड़ता है। कालिदास के विषय में मल्लिका के ये कथन द्रष्टव्य हैं —

---

१. नेमिचन्द्र जैन — आलोचना, जुलाई-सितम्बर, ६७, पृ० ६९

२. लहरों के राजहंस — (अपनी भूमिका) पृ० ८

३. वही, पृ० ६

"वह व्यक्ति आत्म सीमित है। संसार में अपने अतिरिक्त उसे और किसी से मोह नहीं है।" (पृ०१६)

तथा

"......तुम्हारे (मल्लिका के) साथ उसका इतना ही सम्बन्ध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है।" (पृ० २१)

यही कालिदास का यथार्थ चरित्र है जो नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक उभरता है। नाटक नाटककार के इस कथन की साक्षी नहीं देता कि कालिदास का चरित्र नाटक का केन्द्र है,[1] नाटक में कालिदास नहीं मल्लिका ही वह केन्द्र है, जिसके चारों ओर नाटक के पात्र घूम रहे हैं।

आषाढ़ का एक दिन में कालिदास के अतिरिक्त ग्यारह पात्र और हैं, परन्तु उनमें से प्रमुख केवल तीन हैं—मल्लिका, अम्बिका और विलोम। शेष सब पूरक चरित्र हैं।

कालिदास के शैशव काल की चिरसंगिनी मल्लिका भावना-लोक में विचरण करने वाली एक आदर्श प्रेमिका है। कालिदास से उसका अगाध प्रेम है और कैसी भी परिस्थिति में वह उसके विरुद्ध कोई बात नहीं सुनना चाहती। कालिदास को कालिदास बनाने में उसी का प्रमुख हाथ है। इसका व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक है और वही दर्शक-पाठक की समूची सहानुभूति का एकमात्र आलम्बन बनती है। उसका प्रेम इतना महान है कि वह उसके लिए व्यक्तिगत-स्वार्थ का बलिदान कर कालिदास को उज्जयिनी जाने पर विवश कर देती है। विपरीत परिस्थितियों का कोई भी दबाव उसे कालिदास से अलग नहीं कर पाता। गाव में आकर कालिदास के स्थान पर प्रियंगुमंजरी का मल्लिका से मिलना तो नियति का ऐसा करुण-कोमल व्यंग्य है जो दर्शक के हृदय को बेध देता है। प्रियंगुमंजरी मल्लिका के जीवन के व्यंग्य को अत्यन्त तीक्ष्णता से व्यक्त करती है। उसका प्रत्येक सहयोग मल्लिका की जीवन-विडम्बना को गहराता चलता है, जिसमें अनुस्वार और अनुनासिक जैसे मूर्ख अधिकारियों से विवाह का प्रस्ताव तो सर्वाधिक कटु है। मल्लिका का प्रियंगुमंजरी के साथ कश्मीर जाने से इंकार और अपने टूटे-फूटे घर के परिसंस्कार की अस्वीकृति उसके चरित्र को स्वाभिमान और गरिमा के उदात्त रंगों से भर देते हैं। वह अपने को अपने में न देखकर कालिदास में देखती है। कालिदास भी जैसे जीवन के किसी क्षण में उससे अलग नहीं हो पाता। स्वयं कालिदास का यह कथन प्रमाण है—

"—कुमारसम्भव की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनि उमा तुम हो।

1. लहरों के राजहंस : (नाटक का यह परिवर्तित रूप) : पृ० १५

मेघदूत के यक्ष की पीडा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो, यद्यपि मैंने स्वय यहा होने और तुम्हें उज्जयिनी मे देखने की कल्पना की है। अभिज्ञान शाकुन्तलम मे शकुन्तला के रूप मे तुम्ही मेरे सामने थी —।"(पृ०१०२-१०३)

भयानक निर्धनता की दशा मे भी मल्लिका द्वारा कालिदास की कृतियों को खरीद कर पढ़ना, कालिदास के महाकाव्य के लिए अपने हाथों से पृष्ठों को बनाकर रखना और इस भेंट के लिए अन्त तक उसकी प्रतीक्षा करते रहना मानों अपने-आप मे एक करुण महाकाव्य है। परिस्थितियां उसे वीरागना बनने पर विवश करती हैं परन्तु वह कही भी अपने उज्जवल प्रेम की उच्चतर भाव-भूमि से नीचे नही उतरती। नाटक के प्रारम्भ मे उसका यह कथन —

"— फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नही होता। मैंने भावना मे एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव मे अपनी भावना से ही प्रेम करती हू जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है—।" (पृ० ८-९) नाटक के अन्त मे भी उतना ही सत्य है। नाटककार का यह कथन सत्य है कि मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि मे रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल मे विरोपित नहीं होती।[1] मल्लिका हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अद्वितीय और अविस्मरणीय चरित्र-सृष्टि है।

मल्लिका की मा अम्बिका का चरित्र नितान्त यथार्थवादी दृष्टि से गढ़ा गया है। 'मेरी वह अवस्था बीत चुकी है, जब यथार्थ से आंखें मूद कर जिया जाता है।'[2] अपने विषय मे उसका यह कथन बिल्कुल उचित है। अम्बिका कालिदास को सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती है, घृणा करती है। उसे यह असह्नीय है कि कालिदास मल्लिका से विवाह न करके मात्र प्रेम करे। मल्लिका की भावनाओं को वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना समझती है तथा जीवन की आवश्यवताओं को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती है। उसका जीवन भावना नही, कर्म है। वह चाहती है कि मल्लिका यथार्थ जीवन की कठोरता को समझे और अपेक्षाकृत व्यावहारिक विलोम से विवाह कर ले।

'विलोम' नाटक का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र है। विलोम एक असफल कालिदास है और कालिदास एक सफल विलोम। सम्भवतः यही कारण है कि वह कहीं एक दूसरे के बहुत निकट भी पड़ते हैं। ये एक दूसरे के लिए मानों दर्पण हैं। विलोम शायद मल्लिका को इतना नही चाहता, जितना यह चाहता है कि मल्लिका कालिदास से प्रेम न करे। इस पात्र के माध्यम से नाटककार ने मानवीय

१. लहरों के राजहस (पहली भूमिका) : पृ० ९

२. आषाढ़ का एक दिन — पृ० १९

जनता की मनोवृति को भी अभिव्यक्त किया है। वह जो अनुभव करता है वह स्पष्ट कह देता है। अम्बिका के मन की अनेक दबी-घुटी भावनाओं और इच्छाओं को वह मुखर होकर कह देता है। कालिदास की अव्यावहारिकता एवं मल्लिका दारिद्रय के कारण वह अन्त में मल्लिका से शरीर सम्बन्ध स्थापित करने में सफल अवश्य हो जाता है, पर उस समय तक मल्लिका वारांगना बन चुकी होती है। विलोम, नाटक में कालिदास की अपेक्षा सबल और सफल प्रतीत होता है, क्योंकि वह दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। वह अपने आन्तरिक द्वन्द्व को खा चुका है, इसलिए अपेक्षया अधिक संयोजित है। प्रत्यक्षत आशा और आस्था की शक्तियां हताश और अनास्था से कोमल और निर्बल प्रतीत हो सकती है परन्तु सत्य यह है कि पाशविक और बर्बर शक्तियों के हाथों वे पराजित नहीं होती। यही कारण है कि आषाढ़ का एक दिन में पराजित व्यक्ति टूटा हुआ कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलोम है – क्योंकि विजय और पराजय के संकेत वे दोनों स्वयं नहीं है, संकेत है मल्लिका जो कालिदास की आस्था का विस्तारित रूप है।[1]

निक्षेप-मातुल तथा अनुस्वार अनुनासिक की नियोजना का एक उद्देश्य नाटक में हास्य-रस की सृष्टि करना भी है। रंगिणी और संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोध-कर्त्रियों के माध्यम से नाटककार ने तथाकथित अनुसंधान और उसकी प्रक्रिया का तीखा मजाक उड़ाया है। उनका कालिदास के व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, अत: हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि उनकी अतिसाधारण बुद्धि का प्रदर्शन कालिदास के व्यक्तित्व को आघात तक पहुंचाता है[2]

छाज में फटकना धान आहत हरिण शावक, और राज-कर्मचारियों का आगमन जैसे संकेत तथा बिम्बों के नाटकीय प्रयोग पात्रों के चरित्र उद्घाटन में सहायक हैं। इसके अतिरिक्त इस नाटक के गम्भीर काव्यपूर्ण और लयबद्ध संवाद भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। डा० सुरेश अवस्थी का यह कथन ठीक है कि साहित्यिक भाषा और उदात्त शैली में लिखे गये पात्रों के लम्बे-लम्बे संवाद, एकालाप और स्वगत-कथन जिस प्रकार से प्रदर्शन में पात्रों की रंगचर्या के साथ एकीभूत हो जाते हैं और उनके व्यापारों और भावों को उद्घाटित और घनीभूत करते हैं, वह अनुभव हिन्दी दर्शक के लिए सर्वथा नवीन है।[3] कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि चरित्र-सृष्टि के स्तर से आषाढ़ का एक दिन हिन्दी-नाट्य जगत की एक महत्व-पूर्ण उपलब्धि है।

---

१. लहरों के राजहंस – (पहली भूमिका) – पृ० ६
२. आलोचना–जनवरी १९६६, महेन्द्र भटनागर, पृ १८२.
३ वही, पृ १७.

मेघदूत के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो, यद्यपि मैंने स्वयं यहां होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की है। अभिज्ञान शाकुन्तलम में शकुन्तला के रूप में तुम्ही मेरे सामने थी —।"(पृ०१०२-१०३)

भयानक निर्धनता की दशा में भी मल्लिका द्वारा कालिदास की कृतियों को खरीद कर पढ़ना, कालिदास के महाकाव्य के लिए अपने हाथों से पृष्ठों को बनाकर रखना और इस भेंट के लिए अन्त तक उसकी प्रतीक्षा करते रहना मानो अपने-आप में एक करुण महाकाव्य है। परिस्थितियां उसे वीरांगना बनने पर विवश करती हैं परन्तु वह कहीं भी अपने उज्जवल प्रेम की उच्चतर भाव-भूमि से नीचे नही उतरती। नाटक के प्रारम्भ में उसका यह कथन --

"— फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूं जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है—।" (पृ० ८-९) नाटक के अन्त में भी उतना ही सत्य है। नाटककार का यह कथन सत्य है कि मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।[1] मल्लिका हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अद्वितीय और अविस्मरणीय चरित्र-सृष्टि है।

मल्लिका की मां अम्बिका का चरित्र नितान्त यथार्थवादी दृष्टि से गढ़ा गया है। 'मेरी वह अवस्था बीत चुकी है, जब यथार्थ से आंखें मूंद कर जिया जाता है।'[2] अपने विषय में उसका यह कथन बिल्कुल उचित है। अम्बिका कालिदास को सन्देह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती है, घृणा करती है। उसे यह असहनीय है कि कालिदास मल्लिका से विवाह न करके मात्र प्रेम करे। मल्लिका की भावनाओं को वह केवल छलना और आत्म-प्रवचना समझती है तथा जीवन की आवश्यकताओं को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देती है। उसका जीवन भावना नहीं, कर्म है। वह चाहती है कि मल्लिका यथार्थ जीवन की कठोरता को समझे और अपेक्षाकृत व्यावहारिक विलोम से विवाह कर ले।

'विलोम' नाटक का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र है। विलोम एक असफल कालिदास है और कालिदास एक सफल विलोम। सम्भवतः यही कारण है कि वह कहीं एक दूसरे के बहुत निकट भी पड़ते हैं। वे एक दूसरे के लिए मानो दर्पण है। विलोम शायद मल्लिका को इतना नहीं चाहता, जितना यह चाहता है कि मल्लिका कालिदास से प्रेम न करे। इस पात्र के माध्यम से नाटककार ने प्राचीन

---

१. लहरों के राजहंस : (पहली भूमिका) : पृ० ९

२. आषाढ़ का एक दिन — पृ० १९

है मल्लिका में कालिदास की आत्मा का विस्तारित रूप है ।'

निक्षेप-मातुल तथा अनुस्वार अनुनासिक की नियोजना का एक उद्देश्य नाटक में हास्य रस की सृष्टि करना भी है। रंगिणी और संगिनी नामक उज्जयिनी की दो शोध-कर्त्रियों के माध्यम से नाटककार ने तथाकथित अनुसंधान और उसकी प्रक्रिया का तीखा मजाक उड़ाया है। उनका कालिदास के व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि उनकी अतिसाधारण बुद्धि का प्रदर्शन कालिदास के व्यक्तित्व को आघात तक पहुंचाता है।'

छाद में पड़कर धान आहत हरिण शावक, और राज-कर्मचारियों का आगमन जैसे सकेत तथा बिम्बों के नाटकीय प्रयोग पात्रों के चरित्र उद्घाटन में सहायक है। इसके अतिरिक्त इस नाटक के गम्भीर काव्यपूर्ण और लयबद्ध सवाद भी बहुत महत्वपूर्ण है। डा० सुरेश अवस्थी का यह कथन ठीक है कि साहित्यिक भाषा और उदात्त शैली में लिखे गये पात्रों के लम्बे-लम्बे सवाद, एकालाप और स्वगत-कथन जिस प्रकार से प्रदर्शन में पात्रों की रगचर्या के साथ एकीभूत हो जाते है और उनके व्यापारों और भावों को उद्घाटित और घनीभूत करते हैं, वह अनुभव हिन्दी दर्शक के लिए सर्वथा नवीन है।' कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि चरित्र-सृष्टि के स्तर से आषाढ़ का एक दिन हिन्दी-नाट्य जगत की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

१. लहरों के राजहंस
२. आलोचना
३ वही

अध्याय ४[1]

समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि (क्रमशः)

(सन् १९६० से १९६९)

"बुझे हुए ज्वालामुखियों वाले व्यक्तित्व, कीर्ति की पेंशन लेते हुए भले ही अपने को धन्य मानते रहे, छोटी-सी एक सजग चिन्गारी उस बुझे ज्वालामुखी से निस्सन्देह बड़ी तो है ही, वह उसे चुनौती भी देती है।"

-गजानन माधव मुक्तिबोध-- एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ५२

संस्कृत और ग्रीक नाट्यकारों के समक्ष उनके रंग-धर्म निश्चित और पूर्व-निर्धारित थे-- एक ओर रस और आनंद तथा दूसरी ओर विरेचन और विराट। इसके लिए स्वभावतः नाटककार को जिन उदात्त चरित्रों और महत्-प्रसंगों की अपेक्षा थी, वे उसे परम्परा से प्राप्त थे। अतएव उन नाटककारों के लिए नाट्य-रचना राजमार्ग पर चलने की भांति सरल सहज थी। उनके सामने धर्म था, फिर राजन्य वर्ग का सौन्दर्य-बोध था, फिर उनकी अपनी एक निश्चित नाट्य पद्धति थी, रूढ़ियां और परम्पराएं थीं। नाटक के लिए क्या लिखना है, किसके लिए लिखना है और क्यों लिखना है-- इन प्रश्नों का उत्तर जैसे उन्हें किसी के द्वारा सहज ही दे दिया गया था। जीवन और जीवन से ऊपर उठकर लिखना, किसी जीवनेतर उद्देश्य से रचना करना कितना सुन्दर और आनन्दमय है। सम्भवतः इसीलिए उस युग का नाटककार मंत्र द्रष्टा ऋषि बन गया।

मध्यकाल में जीवन और जीवनेतर शक्तियों के परस्पर संघर्ष का मेरुदंड बना है मनुष्य— निर्मम और कठोर, क्रोधी, महत्वाकांक्षी और प्रतिशोध का पुतला मनुष्य। नाट्य-रचना का यह स्तर प्राप्त हुआ शेक्सपियर आदि को, जिन्हें चरित्र और कथा-

---

१. दर्शन (नाटक से साक्षात्कार) — डा० भाग, पृ० ५

प्रसंग तक नहीं खोजने पड़े। वे उन्हें परम्परा और इतिहास में सहज प्राप्त थे।

नाट्य-रचना का गहन और वास्तविक संकट आधुनिक काल में तब उपस्थित हुआ जब नाटककार के सामने यथार्थ और सम्पूर्ण जीवन आ खड़ा हुआ जिसके माथे में उसका सारा जीवनेतर तत्व गायब था, उसकी सारी उदात्तता, सरलता और आनन्द-भावना उसके तन-मन से धुल चुकी थी। 'इब्सन' और 'शा,' प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र और 'अश्क' के सामने भी एक बाहरी आदर्श रहा है —चाहे वह पुनरुत्थान का हो या सामाजिक-वैयक्तिक समस्याओं का। परन्तु उसके बाद के नाटककारों के सामने नाट्य रचना का सूक्ष्म-जटिल संकट उपस्थित हुआ वह अभूतपूर्व था। अनिश्चित और सामान्य जीवन को ऐसे नाट्य-शिल्प में बाँधना जिसका कुछ भी पूर्व निर्धारित और निश्चित न हो, जीवन से साक्षात्कार कर, उसमें गहरे उतरकर वास्तविक और मानवीय चरित्रों और कथा-प्रसंगों को ढूंढना, प्रतिष्ठित और स्थापित को अस्वीकार कर नवीन कला-मूल्यों की निजी तलाश करना समसामयिक नाटककार का कर्तव्य-कर्म रहा है. जीवन में प्रत्यक्ष जुड़ा होने के कारण ही आज का नाटक दर्शक-पाठक को आनन्द और विराट् से नहीं जोड़ता, वह उसे विक्षुब्ध करता है, वह उसकी चेतन-अचेतन समाधिस्थता को तोड़कर उसकी ग्रहणशीलता को व्यापक और सघन बनाता है। आज का रंगमंच समकालीन व्यक्तित्व के प्रति निवेदित है जो मानसिक तनाव में ग्रस्त आत्मपीड़न और आत्म-विश्लेषण की यातना भोग रहा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ नौकरशाही की समाप्ति और जनतंत्र के आगमन में ऊर्ध्वाधर सम्बन्धों के क्षैतिज सम्बन्धों में अन्तरण,[1] रूढ़ नियम-पालन की अपेक्षा लक्ष्य-प्राप्ति पर बल, अन्तर-वैयक्तिक व्यवहार में आमूल-चूल परिवर्तन उभयपक्षीविचार-सचरण- तंत्र की स्थापना पारम्परिक अन्तरालम्बन के महत्व के समझे जाने जैसे महत्वपूर्ण संरचनात्मक और आचरणात्मक परिवर्तनों की जो महती आशाएं जाग गई थीं वे स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रथम दशक में ही धराशायी हो गईं। आस्था-विश्वास के टूटने और मोहभंग होने की यह स्थिति कलाकार के संवेदनशील मानस पर बहुत भारी पड़ी। परिणामस्वरूप समसामयिक नाटककार अपने वर्तमान जीवन और उसके नाटक से सीधा साक्षात्कार करने से डरने लगा। वर्तमान को अपनी पकड़ से बाहर समझकर उसने अतीत की ओर 'प्रतिगमन' आरम्भ कर दिया; इसके अतिरिक्त बर्नार्ड शा के जोन आफ आर्क, क्रिस्टोफर फ्राइ के द फार्ट बार्न, डा० एच० लारेन्स के डेविड जा एलुलिह के ट्रोजन वार, वेस्न के कार्थेजियन वाक सकिस तथा गैलिलियो आदि की भाँति हिन्दी के समसामयिक नाटककारों ने भी लहरों के राजहंस, बकरी, सूर्यमुख, एक कंठ विषपायी, आत्मजयी उत्तर प्रियदर्शी, उर्वशी, पहला राजा आदि नाटकों में अतीत को वर्तमान, वर्तमान को भविष्य और भविष्य को अतीत के दर्पण में देखने का प्रयास किया है, प्राचीन

१. व्याख्या के लिए देखें — पूर्वरंग, पृ०

रहे हैं ? इसका उत्तर है—'नहीं'।[1] समसामयिकता एक चेतना है और साहित्य के सन्दर्भ में इस शब्द का वही अर्थ नहीं है जो समकालीनता के सन्दर्भ में है। समसामयिकता से हमारा आशय है 'रचनाकार के दायित्व के साथ-साथ उस युग की सच्ची मनोभूमि की पहचान जो परिस्थितियों से उपजती है और बिना किसी पूर्वाग्रह के सच्चे सामयिक औचित्य के साथ व्यक्त होती है।'' समसामयिकता को इस मूल अर्थ से समझना उसे केवल तत्कालीन सतही संवेदना बना देना है। इस सन्दर्भ में हिन्दी नाटककार मोहन राकेश का यह कथन भी द्रष्टव्य है —

"Contemporariness here is a phenomena of the mind that gives a particular direction to its faculties and makes it see and interpret things in a light that emerges from the events and attributes of the age"[2]

जिस प्रकार एक आधुनिक चित्रकार द्वारा चित्रित किसी देवता, खण्डहर, प्राचीन महल या मन्दिर के चित्र को हम अनाधुनिक अथवा प्राचीन-ऐतिहासिक चित्र नहीं कहते उसी प्रकार से नाटक भी केवल ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि होने मात्र से ऐतिहासिक-पौराणिक नहीं हो जाते। केवल पृष्ठभूमि अपने-आप में कोई प्रतिमान नहीं है। क्योंकि इसमें घटना अथवा पात्र की अपेक्षा उन्हें अभिव्यक्त करने वाला दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। किसी रचना को समसामयिक और आधुनिक कहने के लिए हमें कृति के बाह्य-ढाँचे (घटना प्रसंग, पात्र आदि) से हट कर रचनाकार के दृष्टिकोण और उसकी मूल संवेदना को देखना होगा। इसी कोण से देखने के कारण तथाकथित आधुनिक और समसामयिक विषयों, प्रसंगों और पात्रों को लेकर लिखे गये अनेक नाटक अभी-अभी खोद कर निकाले गए 'फौसिल' की भांति पुरातन और आदिम प्रतीत होते हैं जबकि ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि में लिखे गये अनेक नाटक आधुनिक भाव-बोध और समसामयिक जीवन की दस्तावेज बन जाते हैं। यही सन्दर्भ लहरों के राजहंस, सूर्यमुख, कलंकी, पहला राजा, एक कंठ विषपायी, उत्तरप्रियदर्शी, आत्मजयी आदि को आधुनिक और समसामयिक बना देता है।

इसके अतिरिक्त विवेच्य काल में ऐसे नाटक भी लिखे गये हैं, यद्यपि उनकी

१. नयी कविता के प्रतिमान—लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० २६३

२. Why Plays ? (Enact : 13-14 : Annual 1968)

संख्या अपेक्षाकृत कम ही है, जिनमें समकालीन परिवेश और उसके भीतर जीने के लिए निरन्तर संघर्षरत मानव से सीधा साक्षात्कार किया गया है। कहीं शुद्ध यथार्थवादी और कहीं काल्पनिक रंगतत्वों तथा काव्यमयी वृत्तियों के समन्वय द्वारा चरित्रों की सृष्टि की गई है। इनमें कथा के निर्माण तथा घटनाओं के चयन की अपेक्षा पात्रों के चारित्र्य एवं उनकी चेतना के विकास, संघर्ष और उदय के चित्रांकन पर अधिक बल दिया गया है। रात-रानी, दर्पण, आधे-अधूरे आदि नाटक इसी प्रकार के हैं। इनमें व्यापक समकालीन परिवेश और उसमें जीने वाले व्यक्ति की बहुविध जीवन-स्थितियों को गहराई से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस काल में नाटक के क्षेत्र में प्रयोग भी बहुत हुए हैं—विशेषकर रंगमंच की दृष्टि से। नाटक में वस्तु, शिल्प और रंगमंच सभी दृष्टियों से प्रयोग अत्यन्त उपयोगी हैं, इनसे रचनात्मक-कार्य आगे बढ़ता है, परन्तु ध्यातव्य है कि "प्रयोग अपने आप में साध्य नहीं होता, वह साधन है। महत्व प्रयोग का नहीं उससे प्राप्त होने वाले सत्य का है। 'प्रयोगों' का महत्व कर्ता के लिए चाहे जितना हो ; सत्य की खोज, लगन, उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं।"[1] इसीलिए प्रस्तुत विवेचन में इस काल खण्ड के केवल सफल प्रतिनिधि और महत्वपूर्ण प्रयोगों को ही सम्मिलित किया गया है।[2]

साठोत्तर हिन्दी नाटक की उपलब्धियों के सन्दर्भ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि 'जो कुछ हमें दिखाई देता है उसका उतना महत्व नहीं है जितना हमारी देख पाने की व्याकुलता का है।"[3] और इस व्याकुलता की उपलब्धियाँ भी निःसन्देह उल्लेखनीय और अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

१. हि० सा० आ० प० : सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ० १६६

२. कलकत्ते की नेशनल लायब्रेरी के शोध-विशेषाधिकारी श्री सी० एस० बैनर्जी के भारतीय प्रकाशन के सर्वेक्षण के अनुसार १९६५-६६ के एक वर्ष में भारत में २०,१८५ पुस्तकें भारतीय भाषाओं में छपीं। इनमें से हिन्दी की साहित्यिक कृतियों की संख्या ३,१२१ थी। इन आंकड़ों से दस वर्षों में प्रकाशित कुल नाट्य-कृतियों का तथा अनुसंधाता की सीमा का धुँधला-सा अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

३. दिनमान : १३ अगस्त १९६७, पृ० ३१

लहरों के राजहंस : आधे-अधूरे

— मोहन राकेश

लहरों के राजहंस

आषाढ़ का एक दिन के बाद मोहन राकेश का दूसरा नाटक लहरों के राजहंस १९६३ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ और १९६८ में यह अपने नये रूप में छपा। इस नाटक का आधार ऐतिहासिक है। इसके प्रमुख पात्र अनेक घटना प्रसंग अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' काव्य से लेकर उन्हें नाटककार ने समय में परिक्षेपित करने का प्रयास किया है। नाटक के नये रूप में नन्द (नायक) और सुन्दरी (नायिका) के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण और भी प्रखर कर दिया गया है। पात्रों के जिस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण यहां हुआ है उसका सम्बन्ध आज के युग से भी है। रचनाकार ने ऐतिहासिक पात्रों को नये जीवन सन्दर्भों और नये सम्बन्धों में प्रस्तुत किया है जिनमें वर्तमान युग के जीवन आदर्शों और मूल्यों की प्रतिध्वनियां सुनी जा सकती हैं। डा० सुरेश अवस्थी के अनुसार इसमें नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक भंगिमा दी गयी है और पात्रों का गहरा चरित्रांकन हुआ है।[1]

नन्द और सुन्दरी के अतिरिक्त इसके अन्य पात्र हैं--श्वेतांग,श्यामांग, मैत्रेय, भिक्षु आनन्द, शशांक, अलका और निहारिका।

लहरों के राजहंस कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध-भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरी के रूप-गर्व की कथा है। रूप-गर्विता सुन्दरी को सहज और अटूट विश्वास है कि उसका पति नन्द उसके रूप-पाश और प्रेम-बंधन से मुक्त होकर कभी भिक्षु नहीं बन सकता। नन्द को भिक्षु रूप में देखकर सुन्दरी पर कुठाराघात होता है और इस गहरे द्वन्द्वपूर्ण क्षण में वह टूटने बिखरने लगती है। नन्द उसके रूपपाश में बंधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना चाहता है। उसकी कसक और पीड़ा मुग्ध-कामुक प्रेमी एवं निवृत्तिवादी भिक्षु के भावों में से किसी में भी स्वयं को 'फिट न बैठा पाने की पीड़ा है। इस प्रकार सुन्दरी और नन्द दोनों ही अपने-अपने ढंग से नाटकीय-कथा के द्वन्द्व को झेलते

1. विवक के रंग : पृ० ४०२.

है, और उनका यह द्वन्द्व ही नाटक को अपरिमित शक्ति प्रदान करता है।

नाटक का प्रधान-पात्र है नन्द, जिसे नाटककार ने एक संशयग्रस्त व्यक्ति–एक प्रश्नचिह्न के रूप मे चित्रित किया है। उसकी मूल स्थिति चयन के अनिश्चय में उठे रुके पैर के समान दुविधापूर्ण है– 'अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।'[१] अथवा स्वयं नन्द ही के शब्दो मे, 'मैं अपने को एक ऐसे टूटे हुए नक्षत्र की तरह पाता हूं जिसका कही वृत्त नही है, जिसका कोई धुरा नही है।'[२] सुन्दरी के पास रहकर वह गौतम बुद्ध के पास जाने को व्याकुल है और तथागत के पास होने पर सुन्दरी से मिलने को क्योंकि वह सब जगह अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता है। वह कहा, कितना, किस बिन्दु पर जीने के लिए है, इसका उत्तर वह स्वयं नही जानता और दूसरों द्वारा बताए गए उत्तर उसे संतुष्ट नही करते। वह दूसरों के विश्वास अपने ऊपर लाद कर नही जीना चाहता, नही जी सकता। नन्द का यही द्वन्द्व उसे आज के आधुनिक मनुष्य की त्रासदी के निकट ले आता है। फ्रायड के अनुसार भोगात्मक और निवृत्ति को प्रवृत्तियो मे जबर्दस्त द्वन्द्व चल रहा है। दोनो पक्षो मे से एक की मदद देकर जिता देने से यह द्वन्द्व दूर नही होता।'[३] यही चिरन्तम द्वन्द्व हमे नन्द चरित्र मे देखने को मिलता है।

नाटक के प्रथम अंक मे दर्शक को नन्द का साक्षात्कार काफी बाद मे होता है। अन्तर्मुख भावपूर्ण चेहरे से थकान झलक रही है। अपने प्रथम परिचय मे ही वह काफी थका टूटा हुआ लगता है और थकान-टूटन शरीर की (आखेट के कारण) उतनी नहीं है जितनी मन की। अपनी ही क्लाति से मरे हुए 'मृत और –जीवित' मृग का प्रसग जैसे सांकेतिक रूप से भीतर ही भीतर निरन्तर मरते हुए थकते टूटते हुए परन्तु बाहर से जीवित नन्द का ही चित्र प्रस्तुत करता है। इसके बाद इसी अंक मे नन्द एक ऐसे प्रेमी-पति के रूप मे सामने आता है जो किसी भी मूल्य पर सुन्दरी का हृदय नही दुखाना चाहता। चाहे इसके लिए उसे अपनी इच्छा और अपने व्यक्तित्व को दबाना ही क्यो न पडे। वह उसके कामों मे हस्तक्षेप भी कम मे कम ही करना चाहता है। यहां वह सुन्दरी के 'चेहरे का दर्पण' मात्र ही है। इस अंक मे लेखक ने नन्द के अन्तर्मन का चित्र प्रस्तुत करना चाहा है। यही कारण है कि उसे नन्द के अन्तर्मन के प्रतीक श्यामांग को नाटक के आरम्भ में प्रस्तुत करना पड़ा है। राजहंसो को लीलती हुई छाया और श्यामांग द्वारा उन पर पत्थर फेंकने के नाटकीय व्यापार को उपयुक्त परिवेश देने के लिए अत्यन्त कुशल और काम्योचित प्रयोग किया गया है। श्यामांग को अन्धकूप में भेजने का आदेश देकर जैसे सुन्दरी

१. लहरा के राजहस : पृ० १६
. वही : पृ० १३७
फ्रायड मनोविश्लेषण : पृ० ३६५.

और मुझे अपने से मुक्त नहीं होने देगा। मैं उससे मुक्त होना चाहता हूँ परन्तु क्या सचमुच मुक्त होना चाहता हूँ? क्या चाहता हूँ, यह क्यों कभी मन में स्पष्ट नहीं हो पाता?"

सुन्दरी के आते ही नन्द के अवसाद की धुन्ध छंट जाती है। वह सुन्दरी के रूप की प्रशंसा करता है, प्रसन्न भाव से उसके होठों पर झुकना चाहता है, उसके बालों को सहलाता है, हर बात में उसकी हाँ में हाँ मिलाता है और चंदन लेप की कटोरी भिगोने से लेकर दर्पण पकड़ने तक के सभी काम करता है। दर्पण टूट जाने पर नन्द सुन्दरी का प्रसाधन करने में व्यस्त है तभी अलका सन्देश लाती है कि भगवान् गौतम बुद्ध भिक्षा के लिये द्वार पर आए थे और दो बार याचना करने के बाद वे लौट गए हैं। नन्द सुन्दरी से कहता है कि उसे जाकर इस प्रमाद के लिए तथागत से क्षमा माँगनी चाहिए। सुन्दरी शीघ्र लौट आने के वादे पर जाने की अनुमति दे देती है। सुन्दरी की बातों और उसकी मुस्कराहट से प्रभावित होकर वह जाना स्थगित करना चाहता है परन्तु तब सुन्दरी उसे रुकने नहीं देती। नन्द का सुन्दरी से यह कथन कि, 'मुझे, सदा वही करना है जो तुम चाहोगी, और वैसे ही करना है जैसे तुम चाहोगी। नहीं?' द्वितीय अंक के अन्त तक नन्द की स्थिति का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है यद्यपि बार-बार नन्द का अव्यवस्थित होना, खो जाना, उसका असमंजस, अनिश्चय और आत्म-संघर्ष चित्र की आन्तरिक रेखाओं को भी स्पष्ट प्रकट कर देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नन्द सुन्दरी के अहं का दर्पण है और द्वितीय अंक में भिक्षुओं की आवाज़ से उसका डगमगाना और अन्तत गिरकर टूट जाना तृतीय अंक की चरम घटना का प्रतीकात्मक संकेत है। कबूतरों की ध्वनि, हवा और लुटक बदैया की आवाज़ से नन्द के परेशान होने में 'साराक त्रास' की स्थिति है।

तृतीय अंक का आरम्भ सुन्दरी और अलका के वार्तालाप द्वारा कमलताल से राजहंसों के चले जाने की सूचना देता है, जो सांकेतिक रूप में नन्द के ही चले जाने की सूचना है। सुन्दरी को अब नन्द की प्रतीक्षा नहीं है। उसके सो जाने पर अलका और श्वेतांग के द्वारा नन्द और गौतम बुद्ध के साक्षात्कार की घटना ज्ञात होती है।

१. लहरों के राजहंस : पृ० ८६

२. वही : पृ० १०८

जबरदस्ती केश काट कर दीक्षित किये जाने के बाद किस प्रकार कुमार ने उनका भिक्षा-पात्र स्वीकार कर बुद्ध को बिना प्रणाम किए निहत्थे जंगल की ओर प्रस्थान किया, इस सबका वर्णन श्वेतांग करता है। तभी भिक्षु आनन्द के साथ नन्द आता है। उसका सिर मुंडा हुआ और शरीर क्षत-विक्षत है। उनकी बातचीत से पता चलता है कि नन्द ने विहार से सीधे वन में जाकर व्याघ्र से युद्ध किया और तथागत की आज्ञानुसार भिक्षु आनन्द तब से छाया की भांति उसके पीछे लगा रहा है। भिक्षु के चले जाने पर गोई हुई सुन्दरी को देखकर नंद लगभग तीन पृष्ठ का एकालाप बोलता है जिससे नन्द के मन की दशा और उसके वन जाने के कारण का ज्ञान होता है। वह मरे हुए मृग को देखने की लालसा से जंगल में गया और वहां गुरगुरा कर सामने से आते व्याघ्र से उलझ पड़ा। वह सोचता है — आत्मरक्षा और आत्म-विनाश इन दो प्रवृत्तियों के बीच में एक साथ जिया — कैसे और क्यों ?··· और क्या उस तरह जीकर सुख मिला ? वह क्या सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया ? (आगे की दीपाधार की ओर जाता हुआ) या यह केवल मन का विद्रोह था —बिना विश्वास एक विश्वास के अपने ऊपर लादे जाने के लिए ?"[1] वह केश-काट लेने को हास्यास्पद समझता है क्योंकि उसे विश्वास है वह सुन्दरी से अब भी उसी प्रकार अनुराग रखता है। परन्तु सुन्दरी के व्यवहार और उससे यह सुनकर कि "···लौटकर वे (नन्द)नहीं आए। जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।"[2] तथा नन्द की उपस्थिति में भी सुन्दरी को अपने आप को अकेला कहना एक ओर यदि नन्द को नितान्त अकेला और असहाय बना देता है तो दूसरी ओर उसके यथार्थ का सामना करके मन के सम्पूर्ण द्वन्द्व और वास्तविकता को उगल देने का अद्भुत साहस भी प्रदान करता है। उनके संवादों का एक-एक शब्द जैसे उनके पारस्परिक सम्बन्धों के तारों को कसता चला जाता है और अन्ततः सुन्दरी अपने पर से अधिकार खो देती है तथा नन्द भी असह्यता के चरम पर पहुँच जाता है और वह तार अपनी अन्तिम ऐंठन के साथ कसमसाकर अचानक टूट जाता है— नन्द के आहत भाव से चले जाने पर।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व में पिसते हुए नन्द की पीड़ा उस आधुनिक चौराहे पर खड़े उस नंगे व्यक्ति की पीड़ा है, मनुष्य की पीड़ा है जिसे सभी दिशाएं लील लेना चाहती हैं और अपने को ढंकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता है, उसे लगता है कि वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है और वह पीछे छूट जाता है। वह प्रत्येक स्थान पर अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता है। नन्द वास्तव में वन के उस आहत मृग के ही समान है। वह सुन्दरी और तथागत दोनों शिकारियों के बाणों से

१. लहरों के राजहंस : पृ० १२६
२. वही : पृ० १३२

बच निकलना है परन्तु अपने भीतर की ही ग्लानि से आहत हो जाता है।

आषाढ़ का एक दिन की मल्लिका की ही भांति लहरों के राजहंस की सुन्दरी भी नाटक का वह केन्द्र है जिसकी परिधि मे शेष सभी पात्र चक्कर लगा रहे हैं। कामोत्सव के आयोजन मे व्यस्त सुन्दरी का दर्प, रूप-गर्व, यशोधरा के प्रति उसके व्यग्य और रूप-आकर्षण एव प्रणय पर दृढ आत्म-विश्वास की चटकीली-भड़कीली नुकीली रग-रेखाओ के समक्ष नन्द बहुत दबा-घुटा और असहाय-सा प्रतीत होता है। और नन्द ही नही नाटक सृजन के दौरान 'नाटककार और परिचालक दोनो उस चरित्र के हाथो पराजित होने के लिए विवश थे।"[1]

नाटक के तीनो अकों की प्रदर्शित घटनाए सुन्दरी के कक्ष मे ही घटित होती हैं। सुन्दरी अलका के साथ कामोत्सव के विषय मे बात करती हुई प्रवेश करती है। उसके व्यवहार और सवादो के निश्चयात्मक स्वर मे यह स्पष्ट है कि वह अपने आप पर बहुत निर्भर करती है। मन मे बात आने से ही सोच लेती है कि वह पूरी हो जाएगी। सुन्दरी मे रूप-गर्व और दर्प इतना है कि वह देवी यशोधरा पर व्यग्य करने से भी नही चूकती। अलका से उसका यह कथन —'अलका। नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"[2] इसका प्रमाण है। वह अपने अहकार और दर्प मे गौतम बुद्ध की महानता भी स्वीकार नही कर पाती और प्रवृत्ति एव भोगवाद के समक्ष उनकीन वृत्ति का परिहास करती हुई कहती है—" कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कमलताल के पास आकर इनसे (राजहसो से) भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहे। ये चोच से चोच मिलाकर चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे—फिर कापती लहरें जिधर से जायेंगी, उधर को तैर जायेंगे। सोचती हू उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी-तट पर जाकर उपदेश देने को नही होगा।"[3] एक मनोविश्लेषक की भांति सुन्दरी यह समझती है कि सिद्धार्थ के मन के दमित काम ने उदात्तीकृत होकर उन्हें तथागत बना दिया है, 'देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाध सकता, तो क्या आज भी वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते ?"[4] सुन्दरी की इन गर्वोक्तियों का उपयोग नाटककार ने 'नाट्य-विडम्बना' के रूप मे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग मे किया है।

श्यामाग सुन्दरी को सभवत. इसीलिए अच्छा नही लगता क्योकि वह नन्द के अन्तर्मन का साकार रूप है। उसे अनुभव होता है कि वह उन कर्मचारियो मे से है जो 'यहा के होकर भी यहा के नही हो पाए।' इसीलिए बाद मे जब नन्द का यह रूप

1. लहरो के राजहस : पृ० 16
2. वही : पृ० 55
3. वही, पृ० 56
4. वही : पृ० 55

उभरता है जो वह नन्द को भी 'कामना का अतिथि' बनाती है। सुन्दरी श्यामांग को दण्डित के अन्धकूप में उतरवा देती है क्योंकि उसकी आँखों का भाव देखकर उसे सदा उलझन होती है।

कामोत्सव का प्रबन्ध उन्माद सुन्दरी को नन्द और उसके बहके-टूटे मन की बातों में कोई रुचि नहीं लेने देता। नन्द के आधे-आधे छूटों के संवादों के उत्तर वह एक-एक पंक्ति के प्रवाह में 'हाँ - हूँ' वाली मुद्रा में देती है अथवा मदिरा पी लेने का आग्रह मात्र करती है। यही सुन्दरी अतिथियों की बैठने की व्यवस्था आदि के आदेश प्रतिहार को देती है तो अपने उन्माद में नन्द को बोलने या अपनी बात कहने का अवसर नहीं देती। उसमें आत्म-सम्मान इतना अधिक है कि नन्द के अतिथियों को बुलाने के लिए जाने को वह अपमान का विषय समझती है और देवी यशोधरा के आशीर्वाद को आत्मरक्षा की सीमा कहने में भी नहीं हिचकती।

नन्द सुन्दरी के चेहरे का ऐसा दर्पण है जिसमें वह अपने मुहं का प्रतिबिम्ब देखकर आत्म-तुष्ट होती रहती है। मैत्रेय से यह जानकर कि सभी अतिथियों ने आने में असमर्थता प्रकट की है और अच्छा हो यदि कामोत्सव का आयोजन अगले दिन रखा जाय यह आहत गर्विणी सी पुकार उठती है—'कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय। मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूं . क्यों? मेरी कामना मेरे अन्तर की है। मेरे अन्तर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं।'[1]

दूसरे अंक का प्रारम्भ प्रेमी नन्द और रूपवती सुन्दरी के प्रति उसकी मुग्धावस्था का चित्रण करता है। नन्द उसके प्रसाधन में सहायता करता है। भिक्षुओं की आवाज़ सुनने पर नन्द के हाथों में दर्पण का डगमगाना और अन्ततः गिरकर टूट जाना तृतीय अंक में सुन्दरी के अहं-टूटने की चरम घटना का सुन्दर प्रतीकात्मक संकेत है। नन्द के सुन्दरी से स्पष्ट यह कहने पर भी कि दर्पण का टूटना आकस्मिक है और वह उस समय कुछ नहीं सोच रहा था, फिर पाठक दर्शक के समक्ष और शायद सुन्दरी के सामने भी उसका भयानक अन्तर्द्वन्द्व प्रखरता से प्रदर्शित हो जाता है। अलका द्वारा गौतम बुद्ध के द्वार से लौट जाने की सूचना के बाद सुन्दरी के व्यवहार से स्पष्ट है कि अपने भीतर वह जितनी ही अव्यवस्थित और भयभीत होती है बाहर से उतनी ही अपने को व्यवस्थित, विदग्ध और निर्भय निर्द्वन्द्व प्रकट करती है। यह व्यवहार उसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति और सबल व्यक्तित्व का द्योतक है कि इन भीषण द्वन्द्व के क्षणों में भी वह नन्द को प्रसाधन करने पर बाध्य कर देती है। जाते-जाते भी नन्द को स्वीकार करना पड़ता है कि, 'मुझे सदा वही करना है जो तुम चाहोगी और वैसे ही करना है जैसे तुम चाहोगी।'[2]

१. लहरों के राजहंस : पृ० ७७
२. वही : पृ० १०८

तृतीय अंक के आरम्भ से ही यह प्रकट हो जाता है कि नन्द अभी नहीं लौटा और सुन्दरी अब उस विषय में कुछ भी नहीं सोच रही है, यद्यपि बाहर से उस बात को इतना हठपूर्वक टालना ही यह संकेत देना है कि मन ही मन वह इस विषय में कितना सोच रही है और चिंतित है। हंसों के विषय में अलका से बात करते हुए, जैसे वह अप्रत्यक्ष रूप में नन्द के विषय में ही बात कर रही है—"···परन्तु राजहंस साहस थे · कम-से-कम एक उनमें अवश्य साहस था। क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि वे अपनी इच्छा से कहीं उड़कर चले जाते? फिर जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास उसका आकर्षण, क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?"[1] प्रथम अंक में अलका के समक्ष सुन्दरी ने यशोधरा पर व्यंग्य किया था कि यशोधरा का आकर्षण सिद्धार्थ को बांध नहीं पाया, इसीलिए वे उसे छोड़कर चले गए। अब नन्द के न लौटने से, अनेक आशंकाओं के कारण वह अपने-आप को बहुत छोटा अनुभव कर रही है और कहीं उसका यह रूप अलका के सामने प्रकट न हो जाये या इससे पहले कि अलका सुन्दरी के विषय में भी वही सोचे जो सुन्दरी ने यशोधरा के विषय में सोचा था, सुन्दरी अपनी ओर से ही स्थिति स्पष्ट करते हुए कह देती है—"मैंने उन्हें भेजा था, तो एक विश्वास के साथ भेजा था। चाहती तो रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा, क्योंकि वैसा करना दुर्बलता होती। अब इतना सन्तोष तो है कि दुर्बलता कहीं थी, तो मुझ में नहीं थी।"[2] लगता है यह स्पष्टीकरण सुन्दरी जैसे अलका को कम और स्वयं को अधिक दे रही है। निराश और थकी-हारी सुन्दरी के सो जाने के पश्चात् भिक्षु-आनन्द के साथ भिक्षु वेश में नन्द आता है। उसके सामने कोई संकोच नहीं है, उसके हृदय में सुन्दरी के लिए अब भी वही अनुराग है अब भी नन्द की आंखों में उसके रूप की वही छाया है। नन्द द्वारा विशेषक को गीला करते ही सुन्दरी कुनमुना कर उठ बैठती है। नन्द के प्रति उसका व्यवहार कटु और कठोर है। वह नन्द को कोई दूसरा ही व्यक्ति और उसकी उपस्थिति में भी अपने आप को अकेला कहती है। वह नन्द द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट करने के उद्देश्य से कहे गये लम्बे-लम्बे संवादों का उत्तर एक-एक वाक्य के जहर बुझे संवादों से देकर नन्द को आहत, स्तब्ध, असंयत, हताश, व्याकुल और उत्तेजित करती जाती है। वह नन्द को जिस-तिस से बार-बार प्रभावित हो जाने वाला साधारण व्यक्ति कहकर उसका और उसके अन्तर्द्वन्द्व का मजाक उड़ाती है। अत्यन्त शक्ति और साहस से नन्द का सामना करने वाली सुन्दरी नन्द के जाने तक किसी तरह अपने को संभाले रखती है और उसके जाते ही सिसकती हुई हथेलियों पर औंधी हो जाती है। यहां आकर अपनी ही ग्लानि से मरने वाला मृग सुन्दरी का प्रतीक बन जाता है क्योंकि

१. लहरों के राजहंस : पृ० ११२

२. वही, पृ० ११४

नन्द का 'गौतम बुद्ध' बनकर लौटना या उसकी भी स्थिति को आदर्श रूप में भी स्वीकार कर लेना सुन्दरी के अहं, उसके आत्म-विश्वास और रूप-आकर्षण पर बहुत बड़ी चोट है जो उसे भीतर ही भीतर तोड़ देती है । गौतम-बुद्ध, यशोधरा, नन्द अथवा किसी से भी पराजित न होने वाली सुन्दरी अपने-आप से हार जाती है ।

इस सम्पूर्ण नाटक के मध्य वातावरण में श्यामांग जैसे-छायाएँ देखकर और करुण स्वर आवाजें एक प्रकार द्वन्द्व रहती । आसपास की सारी हरी-भरी मनोहर व्यवस्था से अलग, उस सारे परिदृश्य में बाधा डालती, फिर भी उस परिदृश्य की सम्पूर्णता के लिए अनिवार्य । प्रथम अंक में श्यामांग अलका का प्रिय और उसका प्रेमी पुरुष है जिसे लेखक ने नन्द के आदर्शपूर्ण और वासनात्मक प्रेम से अलग प्रेम का सात्विक रूप प्रस्तुत करने के लिए रखा है । यह व्यक्ति सुन्दरी के मन में उलझन पैदा करता है और नन्द को विशेष प्रिय है । कमल-ताल के राजहंसों पर पत्थर फेंकने के अपराध में उसे अंधकूप में डाल दिया जाता है परन्तु अलका की अनुनय-विनय से सुन्दरी उसे मुक्त भी करवा देती है । द्वितीय अंक के आरम्भ में भी नेपथ्य से श्यामांग का स्वर सुनाई देता है । श्यामांग वास्तव में एक प्रतीक-पात्र है । वह नन्द के अन्तर्मन का प्रतीक है और नन्द के मन की आकुलता को ही रेखांकित करता है । उसका उन्माद अत्यधिक सोचने वाले मन का ही सम्भ्रम है । छाया (चीवर), प्रतीक रूप से उस परोक्ष की छाया है जिससे चेतन रूप से वह बचना चाहता है । यद्यपि नाटक के नये संस्करण में लेखक ने इस पात्र को काफी सुधारने का प्रयास किया है फिर भी कहीं-कहीं यह बड़ा कृत्रिम और अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है । डा० सुरेश अवस्थी का यह कथन कि श्यामांग नाटक में एक प्रतीक तो बन जाता है किन्तु वह पात्र नहीं रह जाता, और नाटक चाहता है सशक्त, जीवन्त पात्र – अस्पष्ट, निर्जीव प्रतीक नहीं ।[1] तथा नेपथ्य से संगीत खण्डों के समान जिस प्रकार से श्यामांग का उपयोग किया गया है वह नाटकीय दृष्टि से कभी भी वांछित नहीं है, क्योंकि रंगशाला में नाटकीय पात्र कभी भी केवल स्वर के रूप में दर्शकों को ग्राह्य नहीं हो सकता ; वे जिस पात्र की आवाज सुनते हैं उसे देखना भी चाहते हैं ।'[2] नाटक के नए रूप को देखते हुए पूर्णतः सत्य नहीं कहे जा सकते । अब लेखक ने श्यामांग को तृतीय अंक से हटा दिया है और द्वितीय अंक के नेपथ्य वाले संवाद भी काफी कम कर दिए हैं । इस सन्दर्भ में फ्रायड के शब्दों में नाटककार से यही कहा जा सकता है कि प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त वस्तुओं का अपना स्वरूप, प्रतीक बन जाने के कारण, समाप्त नहीं हो जाता ।'[3]

---

१. विवेक के रंग पृ० ४०६
२. वही , पृ० ४०६-४१०
३. फ्रायड मनोविश्लेषण : पृ० २१२

[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible] के [illegible] [illegible] आत्म-विश्वास और [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] करता है। इस पात्र का उपयोग नाटककार ने नन्द के मन द्वारा बुद्ध के प्रभाव के रूप में किया है।

इनके अतिरिक्त गौण पात्रों में [illegible] [illegible] मैत्रेय, नीहारिका, मेखलिका, इन्द्रगुप्त, [illegible] और [illegible] हैं। इनके चरित्र में विशेष उल्लेखनीय बात कुछ नहीं है। कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सूचना देने के कारण श्वेतांग और [illegible] मैत्रेय की भूमिका नाटक के लिए अनिवार्य हो गई है।

पात्रों के सम्बन्ध की भाषा (विशेषतः [illegible] [illegible] में) पात्रानुकूल चाहे न हो (तृतीय अंक में नन्द की भाषा दुरूह है) परन्तु संवाद अवश्य पात्रानुकूल हैं। इनके संवाद [illegible] संवेदनशील, मर्मस्पर्शी, प्रवाहशील काव्य-श्री से समृद्ध और चरित्र-उद्घाटक हैं। नाटककार नन्द और सुन्दरी के चरित्र-उद्घाटन के लिए उनके संवादों और कार्यों के अतिरिक्त अनेक संकेतों और प्रतीकों का उपयोग किया है। दोनों दीपाधार, मत्स्याकार आसन, दर्पण, सरोवर पर तैरते हुए राजहंस, अपनी ही परछाईं से भरा मृग, भिक्षुओं का समवेत स्वर, श्यामांग, अलका, भिक्षु आनन्द का संकेत अथवा प्रतीक रूप में नाटककार ने इतना अधिक उपयोग किया है कि कहीं-कहीं यह अनुपयुक्त प्रतीत होने लगा है। प्रत्येक घटना के पूर्व संकेत द्वारा अनिवार्य उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करना कभी-कभी मुख्य नाटकीय घटना को कमजोर भी बना देता है। तृतीय अंक घटित कम और सूचित अधिक होने से कमजोर हो गया है। नन्द के गौतमबुद्ध से मिलने और व्याघ्र से लड़ने की बात पहले श्वेतांग और अलका, फिर नन्द और आनन्द तथा अन्त में नन्द और सुन्दरी के बीच बार-बार दोहराई जाने के कारण अपना प्रभाव और आकर्षण खो बैठती है। तृतीय अंक में ही भिक्षु-आनन्द के चले जाने के पश्चात् नन्द का लगभग साढ़े तीन पृष्ठों का एकालाप अभिनय की दृष्टि से एक चुनौती है। नन्द के अन्तर्द्वन्द्व के विषय में सत्यदेव दुबे का यह कथन काफी हद तक सही है कि उसकी व्यथा, उसका अन्तर्द्वन्द्व बौद्धिक और भावात्मक दोनों स्तरों पर ही है। बौद्धिक अन्तर्द्वन्द्व राकेश के सुलझे हुए संवादों में भी नहीं उभरता और भावात्मक अन्तर्द्वन्द्व हमारे हृदयों को छू नहीं पाता।[1]

१. नटरंग : वर्ष १—अंक १, पृ० ३३-३४

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि लहरों के राजहंस चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से हिन्दी के उन विशिष्ट नाटकों में से है जिनमें प्रत्येक पात्र अपना विशिष्ट चरित्र रखता है तथा अपने विशिष्ट स्वर और लय में बोलता है। इसके सभी प्रमुख पात्र अत्यन्त सजीव और प्रभावपूर्ण हैं। डा० सुरेश अवस्थी के शब्दों में इसमें नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक भंगिमा दी गई है और पात्रों का गहरा चरित्रांकन हुआ है।[1] लहरों के राजहंस का नाटककार वर्तमान जीवन में निहित जटिल संघर्षों की तह तक पहुँचने में और अपने सम्बन्धों, परिस्थितियों से लड़ते हुए टूटे और खण्डित पात्रों की विषम स्थितियों को मंच पर साकार करने में, निश्चित रूप से पूर्णतः सफल हुआ है।

---

१. विवेक के रंग : पृ० ४०२

आधे-अधूरे

आधे-अधूरे ख्याति प्राप्त नाटककार मोहन राकेश का नया नाटक है। इसमें नाटककार ने पहली बार ऐतिहासिक-अर्द्ध-ऐतिहासिक परिवेश और पात्रों के माध्यम से आधुनिक और समसामयिक संवेदन अभिव्यक्त करने के स्थान पर आधुनिक परिवेश में समसामयिक पात्रों के माध्यम से आज की संवेदना से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का प्रयास किया है। मोहन राकेश ने आषाढ़ का एक दिन के कालिदास के स्वर में कहा था, 'मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया।'[1] कालिदास से लेकर नन्द और महेन्द्रनाथ तक की यात्रा लेखक के पूरे रचनात्मक व्यक्तित्व उसकी छटपटाहट और मान्यताओं का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है, जिसमें उसने पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों के इतिहास को बार-बार दोहराया है। राकेश के आषाढ़ का एक दिन के कालिदास मल्लिका और विलोम, लहरों के राजहंस के नन्द, सुन्दरी और भिक्षु और आधे-अधूरे के पुरुष एक, स्त्री और पुरुष चार— एक दूसरे के प्रतिरूप हैं। कालिदास मल्लिका से भागना चाहता है, नन्द सुन्दरी से, पुरुष एक स्त्री से – पर भाग कोई नहीं पाता। विलोम, भिक्षु और पुरुष चार भिन्न है— अलग करने और मिलाने की कड़ी हैं। तीनों पुरुषों का स्त्री को छोड़कर निर्वाह नहीं। इसी तरह तीनों स्त्रियां पुरुषों से प्रताड़ित होने पर भी उन्हें छोड़ और भुला नहीं सकतीं—अजीब बेचारगी है।[2]

आधे-अधूरे में भारी-भरकम घटनाएं नहीं हैं। इसमें पात्रों की मन स्थितियों और संवेदनाओं की टकराहट को आन्तरिक विस्फोट के रूप में तीव्रता से चित्रित किया गया है। चरित्रों में तीखा अन्तर्द्वन्द्व है। प्रत्येक चरित्र अतृप्त है अभाव और कुण्ठाओं के आक्रोश और विषाद से अभिशप्त है, अपने पारिवारिक नातों में आशंकित और मूढ़ है। हर कोई अपने को दूसरे से बेगाना और अजनबी अनुभव करता है।

१. आषाढ़ का एक दिन : पृ० १०३
२. नटरंग : मधुकनाक १०-११ : पृ० ५३

इसमें मध्यवित्तीय स्तर से ढह कर निम्न मध्यवित्तीय स्तर पर आए हुए शहरी परिवार का कड़ुवाहट-भरा चित्रण किया गया है। विडम्बना यह है कि व्यक्ति स्वयं अधूरा होते हुए भी दूसरों के अधूरेपन (?) को सहना नहीं चाहता और काल्पनिक पूरेपन की तलाश में भटककर अपनी और दूसरों की जिन्दगी को नरक बना देता है। नाटककार इस स्थिति को कुछ विशेष व्यक्तियों या परिवारों तक सीमित न मानकर सामान्य मानता है। सम्भवतः इसीलिए वह अपने पात्रों को कोई विशिष्ट नाम न देकर उन्हें—काले सूट वाला आदमी, पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की और लड़का कहता है (यद्यपि बाद में उनके नाम भी दिए गए हैं), तथापि यह स्पष्ट है कि उसने पात्रों को व्यक्तिगत वैशिष्ट्य—उनका 'अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत'—देने के स्थान पर उन्हें एक जातिगत रूपों में उभारना चाहा है। तभी नाटककार की मान्यता है कि रास्ते में टकराने वाले किसी भी व्यक्ति को लेकर यह नाटक चल सकता है। इसके अतिरिक्त जहां सब के सब बिल्कुल एक से हों, अलग-अलग मुखौटों के नीचे एक से चेहरे वाले हों, वहां उन्हें अलग-अलग चेहरा कैसे दिया जा सकता है?

नाटक की प्रस्तावना में पुरुष (काले सूट वाला आदमी) कहता है कि 'मैं इसमें (नाटक में) हूं और मेरे होने से ही बहुत कुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित है।'[1] लेकिन नाटक में मुख्य और केन्द्रीय पात्र पुरुष महेन्द्रनाथ - नहीं स्त्री—सावित्री—बन जाती है (मोहन राकेश के तीनों नाटकों में ऐसा हुआ है। नाटककार ने कालिदास, नन्द और महेन्द्रनाथ को मुख्य चरित्र बनाना चाहा परन्तु अन्त तक मल्लिका, सुन्दरी और सावित्री ही केन्द्रीय पात्र बन गई)। आधे-अधूरे की सावित्री एक ऐसी नौकरी पेशा स्त्री जिसकी—'उम्र चालीस को छूती; चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष' है। वह निकम्मे और लिजलिजे और आत्मविश्वासहीन पति के प्रति खीज से भरी घर की टूटती-बिखरती जिन्दगी से ऊब कर पिछले बीस बाईस सालों से अपनी कल्पना के एक पूरे आदमी की तलाश में वह इधर-उधर भागती रही है। अपने माद्दे और अपनी शख्सियत वाले पूरे आदमी की तलाश में वह अधूरे आदमियों से टकरा-टकरा कर लौटती है और अपनी खीझ में चीखती-चिल्लाती, तार-तार होती है और उसी अधूरे-पुरुष महेन्द्रनाथ के साथ जीने के लिए मजबूर होती है।

विवाह के दो वर्ष के भीतर ही महेन्द्रनाथ सावित्री को एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई से भी कम, एक लिजलिजा और चिपचिपा-सा आदमी लगने लगता है और पूरे आदमी की तलाश में उसके सामने सबसे पहले आता है—महेन्द्र का मित्र जुनेजा, जो पैसे और दबदबे वाला एक कायदा व्यक्ति है। जुनेजा के साथ कोई मार्ग न मिल पाने के कारण उसकी दृष्टि शिवजीत पर टिकती है। जिसके पास एक बड़ी

१. आधे अधूरे : प्रस्तावना

के बस की बात नहीं है। और ... उसका 'तुम्हारा' हुआ और वह चला गया। [illegible] करती है मनोज के बड़े नाम की डोर पकड़ कर वहीं पहुँच सकती थी। परन्तु मनोज सावित्री की बजाय उसकी बेटी बीना (बिन्नी) को लेकर भाग जाता है। इसके आघात से वह टूट जाती है और बेटे की नौकरी के बहाने अपने बॉस सिंघानिया से सम्पर्क बनाती है। जब उसे घर के इस चक्रव्यूह से निकल भागने का कोई मार्ग नहीं मिलता और वह थक कर बैठती है तो पता चलता है कि जगमोहन फिर लौट आया है। आगे के रास्ते बन्द पाकर वह पीछे लौटती है। परन्तु जो जगमोहन किसी समय उसे लेकर जीवन शुरू करने के लिए लालायित था, वही अब बदली हुई परिस्थितियों में बाल-बच्चों के भविष्य सामाजिक प्रतिष्ठा और शायद उसकी ढलती उम्र को देखकर अपने स्वाभाविक ढंग से अपना दामन बचा जाता है। फिर जुनेजा आता है और उसके स्वार्थी और वास्तविक घिनौने रूप को उघाड़कर उसके सामने रख देता है। जिससे वह करीब-करीब कुचल-सी जाती है। जुनेजा सावित्री को बताता है कि महेन्द्र की जगह चाहे वह इनमें से (शिवजीत, जगमोहन, मनोज या जुनेजा) किसी से भी विवाह कर लेती, तो इसी तरह साल-दो साल बाद ही उसे अनुभव होता कि उसने एक गलत आदमी से शादी कर ली है क्योंकि उसके लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ ओढ़ कर जीना। वह इतना-कुछ उसे कभी भी, कहीं भी एक-साथ नहीं मिल पाता इसलिए वह जिसके साथ भी ज़िन्दगी शुरू करती, हमेशा इतनी ही खाली और इतनी ही बेचैन रहती। यही वह बिन्दु है जहां सावित्री अनुभव करती है —'सब-के-सब सब-के-सब एक-से। बिल्कुल एक से है आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा ? – पर चेहरा ? सब का एक ही।" फिर भी वह सोचती रही है कि वह चुनाव कर सकती है। नाटक के अन्त तक उसे लगता है कि वह महेन्द्रनाथ से छुटकारा पाकर शायद पूर्णता और सुख का कोई रास्ता ढूंढ सकती है। परन्तु उसी समय महेन्द्रनाथ अशोक के साथ घर लौट आता है···वहीं से किसी को कोई छुटकारा नहीं।

'अपने-आप में सतुष्ट, फिर भी आसक्ति' सिघानिया, 'अपनी सुविधा के लिए जीने का दर्शन' लिए जगमोहन, चेहरे पर बुजुर्ग होने के खासे एहसास के साथ बाप्यापन वाला जुनेजा सब के सब मूलतः 'ज़िन्दगी से लड़ाई हार चुकने' की भावना से छटपटाते, सघर्ष के लिए अक्षम, खोखले, पलायनवादी, कुण्ठाओं के पोटले पुरुष

महेन्द्रनाथ के अलग-अलग मुखौटे हैं। एक ही व्यक्ति में चार भूमिकाएं करवाकर नाटककार ने अभिनेता के लिए एक चुनौती प्रस्तुत की है। यह केवल एक चौखटे वाला किरदार नहीं है। एक नाम की एक ही व्यक्तित्व के विभिन्न विभाजित पक्षों को प्रतिस्थापित कर के पेश करने की एक अनिवार्य आवश्यकता है। आज बेकार व असफल होकर पत्नी की कमाई की रोटियां तोड़ने वाला, पुराने बना गृहस्थी की मर्यादा से वंचित, पत्नी के परिचितों या प्रेमियों के आने पर गुस्सा घर से चला जाने वाला, मन की कटुता को सह पाने में असमर्थ होकर पत्नी को स्वावलम्बी व पैसा कमाने वाला महेन्द्रनाथ पहले से ऐसा नहीं था। एक समय था जब वह उमंग से भर कर मुस्करा उठता था। दोस्तों का चहेता और पार्टी-विशेष की रौनक था। वह अपने मित्र जुनेजा के साथ कभी प्रेस खोलता है तो कभी फैक्टरी में हिस्सेदार बनता है। परन्तु भाग्य साथ नहीं देता और व्यवसाय फेल हो जाता है। पत्नी की कमाई पर घर चलता है और वह हर समय यही सिद्ध करने में लगी रहती है कि हर दृष्टि से वह हीन, छोटा और निकम्मा है। मन ही मन वह सावित्री की दासता स्वीकार कर लेता है। उसके बिना रह पाना उसे असम्भव लगता है। धीरे-धीरे उसमें कुण्ठाएं बनती जाती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें 'सैडवादी' प्रवृत्तियां उभरती हैं। वह चीखते हुए पत्नी के कपड़ों को तार-तार कर देता है, उसके मुंह पर पट्टी बांधकर उसे बन्द कमरे में पीटता है, खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर संभोग करता है। दिन-रात छटपटाता है, दीवारों से सिर पटकता है, बच्चों को पीटता है, गुस्से में अपनी कमीज को आग लगा लेता है और दरिंदा बनकर बीवी के घुटने तोड़ता है, उसकी छाती पर बैठकर उसका सिर जमीन में रगड़ने लगता है और अब उसकी यह दशा है कि अपने ही घर में, अपने ही परिवार में वह पूछता है – 'मैं जानना चाहता हूं कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब, जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूं? हर वक्त की धुत्कार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहां मेरी इतने सालों की?' और उसे लगता है कि वह एक रबड़ स्टैम्प के सिवा कुछ नहीं। आत्मग्लानि के क्षणों में वह सोचता है 'अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। तुम्हारी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। इन सब की जिन्दगियां चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूं क्योंकि अन्दर से मैं आराम तलब हूं, घर-घुसरा हूं, मेरी हड्डियों में जंग है ।' तथा 'मुझे पता है मैं एक कीड़ा हूं जिसने अन्दर ही अन्दर इस घर को खा लिया है।' यह कहकर वह अपने बचपन के मित्र जुनेजा के यहां ऐसे चला जाता है, जैसे घर कभी नहीं लौटेगा। परन्तु नाटक के अन्त में 'ब्लड प्रेसर' की बुरी हालत में ही वह जुनेजा का घर छोड़कर वापस लौट आता है।

ऐसे परिवार में पले बच्चे स्वभावतः विकृतियों के शिकार होंगे ही। बड़ी लड़की

[illegible] है, जो उसे [illegible] चैन नहीं लेने देती।

छोटी लड़की किन्नी में और ज्यादा विद्रोह है। उसके भाव, स्वर, चाल, हर चीज़ में विद्रोह है। वह खीझ और असन्तोष के भाव प्रकट करने में अपनी बहन की [illegible] करती है। [illegible] वर्ष की अवस्था में ही वह कैसोनोवा पढ़ने और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में दिलचस्पी लेने लगी है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें '[illegible]' के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। किन्नी अत्यन्त सिरचढ़ी, मुँहफट, ज़िद्दी, [illegible], बिगड़ी लड़की है जो अपमानित होकर 'भीतरी कक्ष' में बन्द होती है और अन्तत: उस कैद से निकलना ही अस्वीकार कर देती है।

लड़के अशोक के 'चेहरे से हमी' झलकती कड़वाहट से आज की युवा पीढ़ी की पीड़ा, अस्वीकार, पलायन और आक्रोश तथा आन्तरिक तनाव को अपने तेजाबी रंग से प्रकट करती है। इक्कीस वर्षीय अशोक चलना शुरू करने से पहले ही विरक्त और निकम्मा होकर बैठ गया है। उसकी प्रच्छन्न सहानुभूति पिता के प्रति (क्योंकि शायद उन दोनों में बड़ी गहरी समानता है) और मां के प्रति प्रकट वितृष्णा एवं असहमति है। कामकाज और जीवन के यथार्थ से मुँह मोड़कर अभिनेत्रियों की तस्वीरों, यौन विषयक पुस्तकों से रोमांस के बीच जिन्दगी बिता रहा है। प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता हेवलॉक एलिस के कथनानुसार 'यौन दृश्यों तथा यौन चित्रों में दिलचस्पी स्वाभाविक तथा साधारण है, बशर्ते कि वह एक बहुत ही भयंकर मनोवेग के रूप में परिणत न हो जाए।'[1] अशोक का एलिज़ाबेथ टेलर, आड्रे हैपबर्न, शर्ले मैक्लेन आदि की तस्वीरें काट-काट कर रखना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पिगमेलियनवाद के काफी निकट है। सिंघानिया के समक्ष अशोक का व्यवहार और अभिनय उसके मन की घृणा, व्यंग्य और कड़ुवाहट को व्यक्त करने में पूर्णत: सक्षम है। 'अन्तराल-विकल्प' में पूर्व सिमट कर विलीन होते हुए प्रकाश और डूबते संगीत के साथ कैंची से कटती तस्वीरों की एक अनवरत चक् चक् चक् की आवाज़ जैसे मानवीय सम्बन्धों के कटते जाने का संकेत करती है।

चरित्रों की टूटन, जलन और वेगानेशन को और अधिक उभार देने के लिए, उनके अन्तर्द्वन्द्व, आक्रोश, विषाद और निकम्मा को और अधिक तीखा करने के लिए मंच निर्देश और मंच सज्जा, संगीत और प्रकाश की सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का

1 यौन मनोविज्ञान, अनुवादक, मन्मथनाथ गुप्त : पृ० ७६.

आश्रय लिया है। कमरा जैसे उसमें रहने वालों और उनकी स्थितियों का ही प्रतीक है। पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की भांति कमरे में भी 'जो कुछ भी है, वह अपनी अपेक्षाओं के अनुसार न होकर कमरे की सीमाओं के अनुसार एक ओर ही अनुपात में है। एक चीज का दूसरी चीज से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की मांग के कारण लगभग टूट चुका है।' तीन तरफ से कमरे में झांकने वाले तीन दरवाजे जैसे तीन पुरुषों के ही प्रतीक है, जिनसे होकर सावित्री कमरे के अन्दर के जीवन से भाग जाना चाहती रही है। इसी प्रकार अब टूटा टी सैट, फटी किताबें और टूटी कुर्सियाँ भी व्यतीत के निरंतर टूटते जाते अवशेष हैं। प्रथम प्रवेश में ही 'स्त्री कई कुछ सभाले बाहर से आती है। कई कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना।' घर, दफ्तर और अपने बोझ से पिसती हुई सावित्री के जीवन की उलझन काफी स्पष्ट हो जाती है। तस्वीरों को कैंची से कतरता हुआ अशोक जीवन के कटते हुए सम्बन्धों और मूल्यों को व्यंजित करता है। छोटी बच्ची का खाली कमरे को एक सिरे से दूसरे सिरे तक (जबकि घर में कोई नहीं है, सब कुछ टूट चुका है) बिलखते हुए पार कर जाना खोखलेपन और खालीपन की भयानकता को और भी भयावह बना देता है। 'एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत' तथा 'आकृतियों पर धुंधलाकर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन' होना प्रकाश और स्थान-स्थान पर मौन तथा चुप्पी का प्रयोग पारस्परिक संपर्क-सूत्रों के टूट कर भी पूर्णत न टूट पाने की व्यथा को रेखांकित करते हैं। नाटक के समाप्त होने से ठीक पहले स्त्री निढाल-सी चुपचाप एक कुर्सी पर बैठ जाती है और उस दरवाजे की तरफ ताकती रहती है, जो इस कमरे को बाहर की दुनिया से जोड़ता है। बच्ची उस दरवाजे के भीतर है जो अन्दर के हिस्से से जुड़ा है। उसने भीतर से कुंडी लगा ली है और खोलने से इनकार कर देती है। पति को भीतर लाया जा रहा है, बेटे के सहारे। जैसे परिस्थितियों के उस चक्रव्यूह को कहीं से भी तोड़ पाने में असमर्थ वहीं वहीं चक्कर काटने को विवश और निरन्तर स्वत्वहीन तथा असंगत होते जाने की नियति में आबद्ध सभी पात्र फिर से जीवन के उसी नाटक को शुरू करने से पूर्व थक कर बैठ गए हों। पर्दा गिरने से पहले का यह दृश्य एक शक्तिशाली बिम्ब है।

आधे-अधूरे की भाषा और इसके संवाद हिन्दी नाटक की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें अभिव्यंजना नाटकीय स्थितियों के श्रव्य और दृश्य बिम्बों के सार्थक संयोजन से आई है। एक-एक संवाद चरित्रों के मन में व्याप्त अभाव की व्याकुलता, विषाद, त्रास और कुण्ठा को अपनी पूरी शक्ति से अभिव्यक्त [illegible] है। संवादों के आधे-अधूरे पन से, उनकी रवानगी से, वाक्यों में निहित व्यंग्य [illegible] अनुभव पूरी तीव्रता से होता है। संवादों में भावों की गूंजना [illegible] पात्रानुकूलता सार्थकता [illegible] है। इसमें एक [illegible] है।

हिन्दी नाटक के [illegible] का सफर।

स्तर की [illegible] स्पष्ट है। नाटक के सभी पात्र रूढ़ है और इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएँ भी अपेक्षित है। परिवेश द्वारा दी गई जिन्दगी ही इन चरित्रों की जिन्दगी बनी रहती है वह अपनी कोई जिन्दगी नहीं जीते। इनमे तनाव तो बहुत है, पर सघर्ष का कोई स्पष्ट रूप नहीं लिया गया है। नाटककार पात्रों की भीतरी की स्थितियों को उतना उजागर न कर उनकी असहज झल्लाहटों के चित्रण पर ही सारे को केन्द्रित करता है। इसीलिए इनके चरित्रों मे गहरे उभारो वाली विचारशीलता उतनी नहीं है जितनी पुनरुक्ति, एकरसता और सपाट-पन।[1] यह सत्य है कि व्यक्तियों के द्वन्द्व और उनके अधूरेपन को केवल एक आर्थिक वास्तविकता तक सीमित करके नाटककार ने जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक जटिलताओं से पलायन करके उसे अत्यन्त स्थूल, प्रश्नरहित और सपाट बना दिया है। मानव-मन की सारी दुर्घटनाओं के लिए केवल बाहरी कारण जिम्मेदार नहीं होते। लेकिन नाटक की स्त्री की भाँति हम नाटक से यह क्यों चाहे कि 'जो जो वह नहीं है, वही वही उसे होना चाहिए, और जो वह है . . ।'[2] निःसन्देह भीतर के आधे-अधूरे पन को बाहर की कोई वस्तु सम्पूर्ण नहीं बना सकती, इस सत्य को अस्वीकार कर यह नाटक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल के स्थान पर स्थूल भौतिकवादी स्तर पर चलता है। परन्तु यह कहना नाटक से अन्याय करना है कि जगमोहन, जुनेजा और सिघानिया गैर-जरूरी पात्र है इसलिए मच पर उनकी उपस्थिति नाटक के खाली स्थानो को भरने के सिवा कुछ नहीं करती, क्योंकि सारी ट्रेजडी को ओछे स्तर पर देखा गया है इसलिए महेन्द्रनाथ परिवार के वयस्क और अवयस्क सदस्य केवल एक पारिवारिक दुर्घटना के साक्षी बनकर रह जाते हैं तथा ये सभी पात्र यांत्रिक और अवास्तविक है। नाटककार द्वारा निर्मित ससार और उसके चरित्रो के द्वन्द्व को उसी रूप मे स्वीकार कर लेने के बाद उसका साक्षात्कार अत्यन्त प्रभावशाली हो उठता है। परन्तु मच-निर्देशों का आधिक्य एक ओर यदि

१. नटरग . सयुक्ताक १०-११ · पृ० ५४
२. वही : पृ० ५०

आरम्भ किया है। कमरा जैसे उसमें रहने वालों और उनकी स्थितियों का ही प्रतीक है। पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की भाँति कमरे में भी 'जो कुछ भी है, वह अपनी आवश्यकताओं के अनुसार न होकर कमरे की सीमाओं के अनुसार एक और ही अनुपात में है। एक चीज़ का दूसरी चीज़ से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की माँग के कारण लगभग टूट चुका है।' तीन तरफ से कमरे में खुलने वाले तीन दरवाज़े जैसे तीन पुरुषों के ही प्रतीक हैं, जिनसे होकर सावित्री कमरे के अन्दर के जीवन से भाग जाना चाहती रही है। इसी प्रकार अब टूटा टी सेट, फटी किताबें और टूटी कुर्सियाँ भी व्यक्ति के निरन्तर टूटते जाने के अवशेष हैं। प्रथम प्रवेश में ही 'स्त्री कई कुछ संभाले बाहर से आती है। कई कुछ में कुछ घर का है, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना।' घर, दफ्तर और अपने बोझ से पिसती हुई सावित्री के जीवन की उलझन काफी स्पष्ट हो जाती है। तनावों को कंधों से कसता हुआ अगोर जीवन के घटते हुए सम्बन्धों और मूल्यों को व्यंजित करता है। छोटी बच्ची का सारे कमरे को एक सिरे से दूसरे सिरे तक (जबकि घर में कोई नहीं है, सब कुछ टूट चुका है) बिलखते हुए पार कर जाना खोखलेपन और खालीपन की भयानकता को और भी भयावह बना देता है। 'एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत' तथा 'आकृतियाँ पर धुंधलाकर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन होता प्रकाश' और स्थान-स्थान पर मौन तथा चुप्पी का प्रयोग पारस्परिक सम्पर्क-सूत्रों के टूट कर भी पूर्णतः न टूट पाने की व्यथा को रेखांकित करते हैं। नाटक के समाप्त होने से ठीक पहले स्त्री निढाल-सी चुपचाप एक कुर्सी पर बैठ जाती है और उस दरवाज़े की तरफ ताकती रहती है, जो इस कमरे को बाहर की दुनिया से जोड़ता है। बच्ची उस दरवाज़े के भीतर है जो अन्दर के हिस्से से जुड़ा है। उसने भीतर से कुंडी लगा ली है और खोलने से इंकार कर देती है। पति को भीतर लाया जा रहा है, बेटे के सहारे। जैसे परिस्थितियों के इस चक्रव्यूह को कहीं से भी तोड़ पाने में असमर्थ वहीं वहीं चक्कर काटने को विवश और निरन्तर स्वत्वहीन तथा असंगत होते जाने की नियति से आबद्ध सभी पात्र फिर से जीवन के उसी नाटक को शुरू करने से पूर्व थक कर बैठ गए हों। पर्दा गिरने से पहले का यह दृश्य एक शक्तिशाली बिम्ब है।

आधे-अधूरे की भाषा और इसके संवाद हिन्दी नाटक की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें अभिव्यंजना नाटकीय स्थितियों के श्रव्य और दृश्य बिम्बों के सार्थक सश्लेषण से आई है। एक-एक संवाद चरित्रों के मन में व्याप्त अभाव की व्याकुलता विषाद, त्रास और कुण्ठा को अपनी पूरी शक्ति से अभिव्यक्ति देता है। संवादों में आधे-अधूरे पन से, उनकी रवानगी से, पात्रों में निहित व्यंग्य के तीखेपन का अहसास पूरी तीव्रता से होता है। संवादों में भावों की पूर्णता, अर्थ की सहजग्राहिता और पात्रानुकूलता आश्चर्यचकित कर देती है। इनमें एक करेंट है जो छू-छू जाता है।

हिन्दी नाटक के विकास में [illegible] वह नाटक चरित्र-

सृष्टि के धरातल से कितना 'आधा-अधूरा' और कमजोर है, यह देखकर आश्चर्य होता है। सबसे पहले नाटक के आरम्भ में काले सूट वाले आदमी से कहलाई गई प्रस्तावना शेष नाटक से अलग प्रतीत होती है और उसमें प्रस्तुत किए गए दावे नाटक में पूरे नहीं होते। इस चरित्र का नाटक से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। यह प्रस्तावना नाटक के दर्शक को परिभ्रमित और गुमराह करती है।[1] नाटक में से किसी एक पुरुष को निकाल देने से भी नाटक के कार्य-व्यापार और दर्शन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता।[1] अतः नाटक में चार पुरुष ही हों यह अनिवार्य नहीं। इसमें नाटक की बुनावट का ढीलापन स्पष्ट है। नाटक के सभी पात्र रूढ़ है और इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएं भी अपेक्षित है। परिवेश द्वारा दी गई जिन्दगी ही इन चरित्रों की जिन्दगी बनी रहती है, वह अपनी कोई जिन्दगी नहीं जीते। इनमें तनाव तो बहुत है, पर सघर्ष का कोई रास्ता तय नहीं किया गया है। नाटककार पात्रों की झेलने की स्थितियों को उतना उजागर न कर उनकी असफल झल्लाहटों के चित्रण पर ही अपने को केन्द्रित करता है। इसीलिए इनके चरित्रों में गहरे उभारों वाली क्रियाशीलता उतनी नहीं है जितनी पुनरुक्ति, एकरसता और सपाट-पन।[2] यह सत्य है कि सावित्री के द्वन्द्व और उसके अधूरेपन को केवल एक आर्थिक वास्तविकता तक सीमित करके नाटककार ने जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक जटिलताओं से पलायन करके उसे अत्यन्त स्थूल, प्रश्नरहित और सपाट बना दिया है। मानव-मन की सारी दुर्घटनाओं के लिए केवल बाहरी कारण जिम्मेदार नहीं होते। लेकिन नाटक की स्त्री की भांति हम नाटक से यह क्यों चाहे कि 'जो जो वह नहीं है, वही वही उसे होना चाहिए, और जो वह है'' ।' निःसन्देह भीतर के आधे-अधूरे पन को बाहर की कोई वस्तु सम्पूर्ण नहीं बना सकती, इस सत्य को अस्वीकार कर यह नाटक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल के स्थान पर स्थूल भौतिकवादी स्तर पर चलता है। परन्तु यह कहना नाटक से अन्याय करना है कि जगमोहन, जुनेजा और सिघानिया गैर-जरूरी पात्र है इसलिए मंच पर उनकी उपस्थिति नाटक के खाली स्थानों को भरने के सिवा कुछ नहीं करती, क्योंकि सारी ट्रेजडी को ओछे स्तर पर देखा गया है इसलिए महेन्द्रनाथ परिवार के वयस्क और अवयस्क सदस्य केवल एक पारिवारिक दुर्घटना के साक्षी बनकर रह जाते हैं तथा ये सभी पात्र यांत्रिक और अवास्तविक है। नाटककार द्वारा निर्मित ससार और उसके चरित्रों के द्वन्द्व को उसी रूप में स्वीकार कर लेने के बाद उसका साक्षात्कार अत्यन्त प्रभावशाली हो उठता है। परन्तु मंच-निर्देशों का आधिक्य एक ओर यदि

---

१. नटरंग : संयुक्तांक १०-११ : पृ० ५४
२. वही : पृ० ५०

नाटककार पर उसके कथाकार के हावी होने का प्रमाण देता है तो दूसरी ओर अभिनेता-निर्देशक की स्वतन्त्रता को बुरी तरह सीमित कर देता है। नाटक के व्यावसायिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नाटककार ने कुछ हल्की नाटकीय युक्तियों का भी सहारा लिया है : बिल्ली का हवा का जिक्र (जो अत्यन्त अस्पष्ट है) महेन्द्रनाथ द्वारा फाइलों को ज़ोर-ज़ोर से मारना, अखबार की रस्सी बनाना, सिगरेट के छल्ले बनाना आदि घिसी-पिटी सपाट फिल्मी युक्तियाँ हैं। सिंघानियाँ के प्रसंग द्वारा जिस परिहास की सृष्टि लेखक ने की है, वह भी अत्यन्त स्थूल सामान्य स्तर का है। नाटककार की भरपूर कोशिश और इच्छा के विरुद्ध सावित्री नाटक का केन्द्रीय पात्र बन जाती है। शेष सब पात्र कठपुतलियों की भांति अपने इस सूत्रधार से जुड़े हैं। यह अलग बात है कि यहां कठपुतलियों के लिए स्वयं सूत्रधार को नाचना पड़ता है।

समग्रत हम कह सकते हैं कि आधे-अधूरे के वे त्रस्त और पस्त चरित्र भले ही विकासहीन और घटनारहित है, पर फिर भी यह एक दर्पण प्रस्तुत करते हैं जो हमें अपने-आप से, अपने आसपास के जीवन और परिवेश से परिचित कराता है। हमें हमारी ही दुनिया का साक्षात्कार कराता है कालिदास का पलायन, नन्द का केवल एक प्रश्न चिह्न छोड़कर चले जाना और महेन्द्रनाथ का फिर वापस आकर सही सब कुछ स्वीकार लेना —लेखक की रचनात्मक यात्रा का एक इतिहास है जिसमें आज के मानव की यन्त्रणा, अन्त:संघर्ष और कुछ न कर पाने की त्रासदी तथा छट-पटाहट अपनी पूरी तीव्रता से व्यक्त हुई है। आधे-अधूरे आज की अनिश्चित और एकरस घटनाहीन ज़िन्दगी का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। इसके चरित्र आधुनिक युग के टूटते परिवार और विघटित होते हुए मानव-मूल्यों को प्रस्तुत करते हैं।

मोहन राकेश ने यथार्थवादी नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों का परि-वेश चाहे कोई भी हो परन्तु उसमें संघर्षरत—छटपटाता हुआ 'आदमी' आज का ही है। उनकी चरित्र-सृष्टि की प्रभावविष्णुता और सामर्थ्य उनके पात्रों की यथार्थता, स्वाभाविकता और जीवन्तता में है। राकेश की भाषा पर असाधारण अधिकार है। पात्रों को एक ही दृश्य बन्ध में संयोजित करके राकेश अपने नाटक को मंच योग्य और अभिनय-पक्ष की दृष्टि से प्रभावपूर्ण तो बना देते हैं परन्तु इससे पात्रों का विस्तार कुंठित हो जाता है और नाटककार को भी 'दृश्य' के स्थान पर 'सूचना' का आश्रय लेना पड़ता है। कुल मिलाकर मोहन राकेश हिन्दी के महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं और मल्लिका, कालिदास, सुन्दरी, नन्द, सावित्री, महेन्द्रनाथ तथा जुनेजा उनकी चरित्र-सृष्टि की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं।

रातरानी : दर्पन : सूर्यमुख : कलंकी

—डा० लक्ष्मीनारायण लाल

ए० निकोल की धारणा है कि 'At the beginning of his career the playwrite sees his dramatic personee as airy fancies, in his middle career reality weighs on him more heavily, at the end of his life, men and women become symbols of larger concepts'[1] परन्तु अंधा-कुआं और मादा कैक्टस जैसे प्रतीक-नाटकों से अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ करके डा० लाल ने यह सिद्ध कर दिया कि सामान्य नाटककार जिस बिन्दु पर अपने जीवन के अन्तिम चरण में पहुंचता है प्रतिभा सम्पन्न नाटककार के लिए वह बिन्दु प्रथम-चरण भी हो सकता है। हिन्दी नाटक और रंगमंच को पूर्णतया समर्पित डा० लाल के व्यक्तित्व में नाटकीय अनुभूति की निजता, कवि-हृदय की कल्पना, अभिनेता का उत्साह तथा निर्देशक की सूक्ष्म दृष्टि का अद्भुत समन्वय हो गया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उस पर नाट्य-लेखन और रंगमंच के प्रत्यक्ष अनुभव की छाप है। कोणार्क के परिचय में श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने लिखा था, 'शास्त्र के दामन पर तजुर्बे के दाग न पड़ें, तो यह दामन नहीं पताका बन कर रह जाएगा। हमें तो दामन की जरूरत है, पताका की नहीं।'[2] डा० लाल ने अपनी सतत साधना द्वारा हिन्दी नाट्य-जगत् की इसी 'जरूरत' को पूरा किया है। अब तक उनके बारह पूर्णकालिक रंगमंचीय नाटक इनमें (मि० अभिमन्यु भी सम्मिलित है) तथा विभिन्न एकांकी नाटकों के चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। विवेच्य काल-खण्ड में प्रकाशित सूखा सरोवर, तीन आंखों वाली मछली, रातरानी, रक्तकमल, नाटक तोता मैना, दर्पन, सूर्यमुख और कलंकी में से अपनी सीमाओं के कारण हम केवल रातरानी, दर्पन, सूर्यमुख और कलंकी का ही अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे तो उनका प्रत्येक नाटक एक नई प्रयोग-धर्मिता को लेकर चला है परन्तु चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से ये चारों नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

---

१. World Drama : p. 926

२. पृ० १०

वह ऐसे पिता (पं० रामचन्द्र शुक्ल) की पुत्री है जिनके जीवन में केवल आदर्श ही आदर्श रहा है। संगीत और साहित्य प्रेम तथा दया, माया, ममता, सहानुभूति, त्याग आदि गुणों ने उसके व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा प्रदान की है। वह उन लड़कियों में नहीं है, जो मजनुओं की लैला बनने का स्वप्न देखती हैं। वह एक हिन्दू स्त्री है पति में श्रद्धा करने वाली, उस पर भरोसा और विश्वास रखने वाली। कुन्तल विवाह को स्त्री-पुरुष के आत्मदर्शन का माध्यम मानती है और पति को व्यक्ति नहीं एक सत्ता के रूप में स्वीकार करती है। इसका प्रमाण हमें निरंजन बाबू को लिखे गए उसके पत्रों और पत्रों सम्बन्धी वार्तालाप से मिलता है। प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास करने वाली और संगीतविशारद कुन्तल अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल पति की आज्ञा मानकर २५० रुपए प्रतिमास पर यूनीवर्सिटी के म्यूजिक विभाग में नौकरी भी करती है और अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए निरंजन बाबू द्वारा दिलवाई नौकरी को छोड़ भी देती है। वह प्रेस के हड़तालियों से सहानुभूति रखती है और मानवीय कर्तव्य को पूरा करने के लिए वह हड़ताल कर्ताओं के नेता किशोरी की पत्नी की असमय सहायता भी करती है। कुन्तल जयदेव को भी प्रेरित करती है कि वह कर्मचारियों की मांगों पर विचार करके उनके साथ न्याय करे। निडर इतनी है कि उत्तेजित भीड़ में अकेली चली जाती है। घर में लगा हुआ बगीचा कुन्तल का ही प्रतीक है जिसमें चहक-महक समृद्धि, सुगन्ध और नये जीवन का उद्घाटन है। 'नन्दन वन की इन्द्राणी कुन्तल ही नाटक की रानरानी है। वह सभी दुखों को अपने ऊपर लेकर जयदेव को चिन्ताओं से मुक्त कर देती है। माली और फुलवारी के प्रति उसका व्यवहार उसकी सहृदयता, कोमलता और सहानुभूति का द्योतक है। कुन्तल के अनुसार सामाजिक दुःख और छल-प्रपंचनाओं का मूल कारण यह है कि 'आज का सारा आधुनिक समाज केवल शरीर के स्तर पर जी रहा है। इसी का फल है आज समाज में इतना झूठ, इतना आडम्बर, अविश्वास और हृदयहीनता।'[1] इन्हीं विचारों के कारण और आज के युग में भी 'सिर्फ एक व्यक्तित्व' रखने वाली कुन्तल को जयदेव मध्ययुगीन कहता है।

कुन्तल का यह आदर्शवादी महिमामण्डित रूप सम्भवतः उसे केवल मध्ययुगीन आदर्शी व्यक्तित्व ही दे पाता यदि बहुत गहरे में उसके चरित्र में एक तीव्र मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व न होता। पात्रों के संवादों, उनकी घोषणाओं और नाटक को सतही या प्रत्यक्ष धरातल से देखने पर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जयदेव दोहरे और कुन्तल इकहरे व्यक्तित्व वाले पात्र हैं। परन्तु गहराई से देखने पर सत्य इसके ठीक विपरीत दिखाई देता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर कुन्तल की इस उक्ति 'मेरे पास सिर्फ एक व्यक्तित्व है।'[2] तथा जयदेव द्वारा बार-बार इसी बात को दोहराने के

1. रातरानी, पृ० ५६
2. पृ०४६

बावजूद, इस पर विश्वास करना कठिन है। निरंजन कुन्तल का प्रथम प्रेम है और बार-बार विवाह को एक संस्था के रूप में मानने का आग्रह करने वाली कुन्तल का व्यवहार ही यह सिद्ध करता है कि उसके जीवन के सिद्धान्त और व्यवहार में कितनी बड़ी खाई है। दूसरे अंक में सुन्दरम के साथ निरंजन को अकस्मात् देखकर कुन्तल का काप उठना, सलज्ज माथा झुका लेना, कुन्तल का स्वयं काफी लेकर आना और उसे देखकर जाते हुए निरंजन का बधा खड़ा रह जाना, पत्रों को वापस मागने का प्रसंग (एक ओर यह प्रसग नाटक के प्रत्यक्ष कार्य की आवश्यकता है और दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से इसके द्वारा कुन्तल जैसे निरंजन को अपने पुराने परिचय और सम्बन्ध की याद दिला देती है), सुन्दरम द्वारा इनाम की बात कहे जाने पर कुन्तल से स्वयं उसी को माग लेने पर कुन्तल का कथन, 'ठीक! अपने को ही दे दूगी।'[1] और उनके विवाह के बाद उनके चले जाने पर कुन्तल का फफक कर रो पड़ना और स्वगत कहना, 'सुन्दरम्! तुमने कहा था कि इनाम में मैं कुन्तल को ही लूगी। मैंने तुम्हे दे दिया।'[2] आदि तथ्य इस सत्य के प्रमाण हैं कि जयदेव से अपने व्यक्तित्व की कोई आन्तरिक एकता न देख पाने के कारण कुन्तल आज भी निरंजन से प्रेम कर रही है। दूसरे अंक में कुन्तल निरंजन से अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण शब्दों में विवाह के सन्दर्भ में संयोग और भाग्य की बात करती है (कहीं बहुत गहरे उसे यह टीस है कि यदि भाग्य साथ देता और उसका विवाह निरंजन से हो जाता तो सम्भवतः वह अधिक सुखी होती)। निरंजन लाल कनेर और कुन्तल रातरानी है पर इंजीनियर ने उन्हें संसार के बगीचे में बहुत दूर-दूर लगा दिया है। दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में निरंजन के पुनः आने पर कुन्तल का कथन उसकी आन्तरिक दशा का सुन्दर दिग्दर्शन कराता है। निरंजन के 'नमस्ते!' कहने पर कुन्तल की प्रतिक्रिया —'ओह! तुम आ गए। (संभलती हुई) आप आ गए।' और निरंजन का उत्तर, हा हा, 'तुम' आ गया 'आप नहीं।' (दोनों की स्नेह स्निग्ध हंसी।)'[3] इसी दृश्य में दोनों का परस्पर समान रुचियों पर बात करना और कुन्तल द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तलम् में विरहिणी शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को लिखे गए पत्र (निठुर, तुम्हारे हृदय की क्या दशा है, यह तो मैं नहीं जानती, पर मेरे अंगों को, जिनका सुख तुम्हारे हाथ में है और जिनकी भावना तुममें लगी हुई है, कामदेव दिन-रात प्रबल वेग से जलाता है) का उच्चारण तथा निरंजन द्वारा 'साईनो डी बैंजरक' में साइनो द्वारा राक्सेन से प्रेम-निवेदन करने के प्रसंग का कथन (ओ मेरे हृदय के बसंत, मैं तुम पर फूलों की वर्षा कर दूगी। प्रिय, मैं तुमसे प्यार करता हूं, जीवन से बढ़कर

१. रातरानी, पृ० ६५
२. वही, पृ० ६२-६३
३. वही, पृ० ८७

विवेक से बढ़कर, स्वयं प्रेम करने की क्षमता से बढ़कर मैं तुम्हें प्यार करता हूं ...।)[१] कुन्तल और निरंजन की पारस्परिक भावनाओं का आदान-प्रदान ही है। कुन्तल के अचेतन में कहीं न कहीं निरंजन से बदला लेकर उसे भी अपने जैसी स्थिति में ले आने की भावना छिपी हुई है। फ्रायड जैसे मनोविज्ञानियों के अनुसार प्रेम के साथ ऐसी भावना का होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए कुन्तल द्वारा निरंजन और सुन्दरम् के विवाह करा देने पर जयदेव का यह कथन एक मनोविश्लेषण की भांति कटु परन्तु सत्य प्रतीत होता है--

'तुमने बदला लिया है। ब्राह्मण लड़के से कायस्थ लड़की की शादी।' तथा

'निरजन की शादी के लिए जहाँ तुम्हारे पिताजी पांच हज़ार रुपए देकर भी उनके पिता को नहीं संतुष्ट कर पाए और तुम्हारी शादी टूट गई, वहां तुमने उसी निरंजन की शादी इस तरह मुफ्त में कर दी। यह बदला नहीं तो क्या है ?'[२] जयदेव के इस संवाद के बाद रोती हुई कुन्तल का जय के हाथों में अपना मुंह छिपा लेना हमारी धारणा को और पुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में जयदेव और कुन्तल का यह वार्तालाप भी द्रष्टव्य है—

जयदेव—हूं। निरंजन बाबू के हृदय नहीं है क्या ?

कुन्तल—अगर वह होता तो उन्हें पहले मेरी चोट का अंदाज होना चाहिए था।'[३]

कुन्तल अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में भीतर ही भीतर जय से सतुष्ट नहीं है। उनमें शायद सामजस्य का कोई समान बिन्दु भी नहीं है।' एक बड़ा-सा सुनसान महल, जिसमें सुनहरे कागज़ के फटे हुए पन्ने तेज़ हवा में चारों ओर उड़ रहे हैं। मैं उन उड़ते हुए पन्नों का पीछा करती हुई सारे कमरों में दौड़ रही हूं, पर मेरे हाथ कुछ भी नहीं आता ।'[४] बीमारी की हालत में बार-बार इसी एक स्वप्न को देखना भी उसके जीवन रूपी महल के सूनेपन और निरंजन को पकड़ पाने की असफल चेष्टा को ही रेखांकित करता है। आदर्शवादी और सच्ची भारतीय नारी का नाटक के प्रारम्भ में परिहास में सुन्दरम से कहा गया यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

'अगले जन्म में तुम पुरुष होना, मैं तुम्हारी पत्नी बनूंगी।'[५]

इस सन्दर्भ में जयदेव से कहा गया कुन्तल का यह कथन भी उल्लेखनीय है—

१. रातरानी, पृ० ६०
२. वही, पृ० ६४
३ वही, पृ०६५
४. वही, पृ० १०८
५ वही, पृ० १११.
६ वही, पृ० ३३-३४.

आप कहते हैं न कि आप में 'डबल पर्सनेलिटी' है—एक आप मेरे पति दूसरा आपका बाहर का व्यक्तित्व। मेरे पास भी दो शक्तियां हैं—एक मेरा शरीर, दूसरी मेरी आत्मा।"[1] कुन्तल शरीर से जयदेव की पत्नी और आत्मा से निरंजन की प्रेमिका है। नाटक के अन्त में भी भीड़ में घिरी हुई कुन्तल को निरंजन ही बचा कर लाता है। पत्नी और प्रेमिका का यह द्वन्द्व ही उसके चरित्र का मूल द्वन्द्व है जो सम्पूर्ण नाटक की आत्मा में बहुत गहरे चलता है और कुन्तल के चरित्र तथा नाटक को एक आश्चर्यजनक गहराई प्रदान करता है। उद्यान-प्रेम में उसकी काम भावना का उदात्तीकरण हो गया है।

कुन्तल का विचार है कि 'किसी को पाने के लिए त्याग की आवश्यकता है। यह त्याग अपने को खाली कर डालने के लिए नहीं, वरन् अपने को पूर्ण करने के लिए है।"[2] उसके लिए त्याग का अर्थ है—प्रेम। और कुन्तल अपने त्याग (एक ओर निरंजन का दूसरी ओर अपने जीवन के मोह का) द्वारा ही अन्ततः जयदेव के प्रेम को प्राप्त करती है।

कुन्तल का मूल द्वन्द्व जयदेव के शब्दों में यही है—'नहीं ..आओ मेरे हाथ पर हाथ रख कर बोलो प्रेम-वर्कज और मैं, यह फुलवारी, ऑरचर्ड और मेरी जिन्दगी, निरंजन और जयदेव बोलो तुम क्या चाहती हो? किधर हो तुम? क्या हो तुम?"[3] और यह द्वन्द्व सतह पर नहीं, इस चरित्र के आन्तरिक बुनाव में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। नाटक के अन्त में केदार के फूल को आंचल में बांध कर माथे पर चोट सहने वाली कुन्तल की करुण-कोमल झाँकी अपने आप में एक जीवन्त कविता है।

दयालु, सहृदय और देवोपम स्वभाव वाले इंजीनियर साहब का पुत्र जयदेव एक पूंजीपति के रूप में हमारे सामने आता है। उसमें पूंजीपति के सभी गुण या दुर्गुण विद्यमान हैं। जयदेव और कुन्तल के विवाह को चार वर्ष हो चुके हैं। एम. काम. पास और दो साल लॉ में फेल हो जयदेव की आयु इस समय पैंतीस के आसपास है। यह आकर्षक पुरुष इस समय पिता के छोड़े ७५ हजार रुपए, एक प्रेस (जिसमें लगभग सौ-सवा-सौ कर्मचारी हैं), एक भरे-पूरे घर, सुन्दर पत्नी और वफादार माली (नौकर) का 'स्वामी' है। पिता का इकलौता बेटा—ताश (जुआ) का शौकीन, आज़ाद तबीयत, खुले हाथ। वह कुन्तल को मध्ययुगीन और स्वयं को [illegible]िक समझता है। आधुनिक से उसका तात्पर्य है शुद्ध स्वार्थी बनकर, धन एवं [illegible]कार बटोरकर मात्र शरीर के स्तर पर जीना। वह हर चीज़ का मूल्य रुपये

[1] रातरानी. पृ० १०६.
[2] वही, पृ० ९०.
[3] वही, पृ० ११९.

में ही आंकता है—उसके लिए 'रूप, चरित्र, विद्या और कला-साहित्य इन सबके ऊपर पैसा है, पैसा।" कुन्तल, मानी बाबा, और प्रेस-कर्मचारियों आदि (जिनपर भी वह समझता है कि उसका अधिकार है) के प्रति उसका व्यवहार न्यायपूर्ण नहीं है। मकान-मालिक और योगेश तो अलग प्रेस कर्मचारियों को उनकी तनख्वाह तक नहीं मिलती। कुन्तल द्वारा किशोरी की मरणासन्न स्त्री को पचास रुपए दिए जाने पर वह कहता है—'तभी तो वह स्साली आज पांच दिनों से चल भी रही है। जब तक अगर वह स्त्री मर गई होती, तब मैं देखता किशोरी की लीडरी।'[1] इस कथन से उसकी निर्दयता और निष्ठुरता प्रकट होती है।

जयदेव और कुन्तल में कोई आन्तरिक समानता नहीं है। कुन्तल में यदि साहित्य और संगीत की अदम्य प्यास है तथा वह उसके 'अन्तस्तलवाली की पुकार' है तो जयदेव का विचार है कि साहित्य, कला, धर्म दर्शन इन सबको वायु का रोग हो जाता है। संसार और मन का मेल कभी होता ही नहीं।'[2] जयदेव की मूल समस्या अधिकार और अहं तुष्टि की समस्या है। उसके व्यवहार से क्षुब्ध होकर सहनशील कुन्तल को भी अन्त में कहना ही पड़ता है—' तुम मुझे शायद पत्नी नहीं समझते, दहेज में मिली हुई महज एक औरत समझते हो। तुम मेरे पति हो, पर तुम अपने आपको महज मेरा स्वामी समझते हो। इसी तरह तुम प्रेस-वर्कर्ज को अपना गुलाम समझते हो।"[3] इसी धारणा का परिणाम है कि वह प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपए में ही आंकता है। उसके लिए यह युग मात्र 'अर्थ युग' है। जयदेव के लिए स्त्री को लक्ष्मी कहने का अर्थ है रुपया, अधिकार, आज स्त्री को पत्नी और लक्ष्मी दोनों एक साथ होना है।"[4] वह पैसे (कार खरीदने) के लिए कुन्तल की इच्छा के विरुद्ध उसे नौकरी करने पर विवश करता है, सर्विस छूट जाने के डर से वह भयंकर बीमारी के बाद अत्यन्त कमज़ोर हालत में कुन्तल को नौकरी पर भेज देता है, निरंजन से भी इसीलिए ठीक तरह पेश आता है कि उसकी मदद से कुन्तल को नौकरी मिल सकती है, सेठी है, योगी और प्रकाश से वह फिर इस स्वार्थ पर मित्रता करने पर तैयार हो जाता है कि वे दो गुण्डे लगवाकर जुलूस में से पुलिस पर पत्थर फिकवा दे। परन्तु अन्तिम दृश्य में सुन्दरम के प्रसंग को लेकर वह योगी और प्रकाश को जिस प्रकार फटकार कर बाहर निकाल देता है, वह उसके उच्च चरित्र का द्योतक है। गोपनीयता

---

१ सतरंगनी : पृ० ४६
२ वही, पृ० ११७
३ वही, पृ० ८०
४. वही, पृ० ११६
५. वही, पृ० २६

उसके चरित्र की एक अन्य विशेषता है। उसे किसी चीज की जल्दी नहीं रहती। वह बातें छिपा रखने का आदी है। कुन्तल और निरंजन के पत्राचार तथा सारी सम्पत्ति समाप्त हो जाने की बातें छिपा रखना इसके प्रमाण हैं।

मूलतः जयदेव के चरित्र में एक आन्तरिक कमजोरी है, जो कुन्तल जैसे सबल व्यक्तित्व के समक्ष और भी उभर कर सामने आ जाती है। इसी आन्तरिक कमजोरी को जयदेव कभी शक्ति, कभी अधिकार और कभी कई-कई मुखौटे लगाकर आधुनिकता का ढोंग करके भरना चाहता है परन्तु अन्ततः स्वीकार करता है 'कुन्तल! मैंने तुमसे कहा था न, मेरे पास दो व्यक्तित्व हैं—पर आज मैं तुमसे कहता हूं कि ये दोनों झूठे हैं। ..तुम नहीं जानती मैं अकेले कितना निर्बल हूं।''[1] वह केवल धन को शक्ति समझता है और इसी कारण बैंक-बैलेंस चुक जाने पर अपने-आपको नितान्त निर्बल और असहाय समझने लगता है। सुन्दरम् के समक्ष व्यक्त की गई जयदेव की 'दुःख-संघर्ष' झेलने की इच्छा महज़ शब्द जाल प्रतीत होती है क्योंकि नाटक में उसके चरित्र द्वारा इसका कोई संकेत तक नहीं मिलता।

नाटक में निरंजन को जयदेव के प्रतिपक्ष में रखकर एक आदर्शवादी युवक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लगभग पैंतीस वर्ष की आयु का यह युवक लखनऊ यूनिवर्सिटी में लेक्चरार है। आरम्भ में वह एडवोकेट पिता की हठधर्मिता के कारण चाहते हुए भी कुन्तल से विवाह नहीं कर पाता और बाद में इसी कारण, पिता से सम्बन्ध-विच्छेद करके अलग रहने लगता है। कुन्तल के प्रति उसके मन में एक अपराध-ग्रन्थि है, इसी कारण वह अपने-आपको कायर और अपदार्थ समझता है। और इसी के परिणामस्वरूप, वह कुन्तल के कहने पर सुन्दरम से चुपचाप विवाह कर लेता है। कुन्तल के मांगने पर फौरन उसके पत्र वापस ला देता है। कुन्तल को नौकरी दिलवाता है और दयावश दिलवाई गई इस नौकरी को अस्वीकार कर कुन्तल जब त्यागपत्र दे देती है तो उसके चरित्र-बल से अभिभूत होकर निरंजन उसकी प्रशंसा ही करता है। वह विवाह को एक कर्मकाण्ड, एक स्कूल, एक परम्परा का पालन नहीं, आत्मानुभूति मानता है। निरंजन स्त्री को मानव-जाति का उत्तम अंश मानता है, क्योंकि वह बलिदान विनम्रता, श्रद्धा और रूप की प्रतिमा है। उसे संगीत और साहित्य में रुचि है। वह मन ही मन अब भी कुन्तल से प्रेम करता है और उसके लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने को तत्पर है। नाटक के अन्त में बिना अपने जीवन की चिन्ता किए कुन्तल को बचाने के लिए उत्तेजित भीड़ में घुसकर उसे उठा लाना इसका प्रमाण है।

कुलवंती देवी श्रीवास्तव उर्फ सुन्दरम लगभग अट्ठारह वर्ष की सुन्दर, उन्मुक्त और सहृदय नारी है। अभिनय में निपुण सुन्दरम 'तितली की तरह चपल और शिशु जैसी नटखट' है। दिल्ली के प्रेमी अविवाहित नौजवान, एराउट आफिसर की प्रेम-रूपी ग़लतफ़हमी का हास्यपूर्ण प्रसंग और जयदेव के पिता की आत्मा बनकर योगी

1. रत्नरानी, पृ० १३३

तथा प्रकाश को डराकर मूर्ख बनाना उसके हास्य-प्रिय और उन्मुक्त होने के द्योतक हैं। निरंजन से विवाह हो जाने पर उसकी इच्छा के अनुसार वह रेडियो स्टेशन पर प्रोग्राम एक्जिक्यूटिव की अच्छी-भली नौकरी छोड कर प्रसन्नतापूर्वक अपना घर-बार सम्भाल लेती है। इस पात्र की सृष्टि भी लेखक ने सम्भवतः कुन्तल का प्रतिपक्ष प्रदर्शित करने के लिए ही की है।

लगभग पचास वर्ष आयु का, सांवले रंग और मझोले कद का माली वास्तव में घर का नौकर नहीं इस परिवार का पूज्य सदस्य है। गुरमुख माली साधु-सन्त के समान चरित्र वाला है। फुलवारी का काम उसके लिए पूजा है। सेवाभाव, स्नेह और आत्मीयता उसमें भरपूर मात्रा में है। जयदेव द्वारा फर्म को कुन्जड़े के हाथ बेच दिए जाने पर उसे अत्यन्त दुःख होता है। इसे वह अपने मालिक के बाग की बेइज्जती समझता है। अन्तिम दृश्य में जयदेव को घर पर छोड़कर वह निरंजन के साथ कुन्तल की रक्षा के लिए जाता है। इस चरित्र की सृष्टि नाटककार ने मुख्यतः विभिन्न स्थितियों और पात्रों पर टिप्पणी और व्याख्या करने के लिए की है।

योगी और प्रकाश जयदेव के जुआरी, कायर और कामुक मित्रों के रूप में ही सामने आते हैं। नाटककार ने इन दोनों पात्रों में इनका चारित्र्य भरना आवश्यक नहीं समझा है। इनका उपयोग केवल जयदेव का चरित्र उभारने में ही किया गया है।

वातावरण में लेखक ने गीत, संगीत, प्रकाश और प्रतीकों का सफलतापूर्ण उपयोग किया है। पात्र की मनःस्थिति के अनुकूल पात्र के वस्त्र और उनके रंगों का ध्यान डा० लाल विशेष रूप से रखते हैं। 'बांसुरी का अकेला मधुर संगीत' वातावरण ही कुन्तल का प्रतीक बनकर उसके चरित्र का उद्घाटन कर देता है।

करने लगी। बनारस यूनिवर्सिटी से उसने उन्नीस सौ पचपन में बी० एस० सी० पास किया। उसका अपना एक व्यक्तित्व है और अपने विचार। यही कारण है कि लामा महाराज से उसकी लड़ाई इस बात को लेकर हो जाती है कि परिवर्तनशील सत्य के साथ-साथ बौद्ध मठ की पुरानी रूढ़ियां भी बदलनी चाहिए। वह प्रायः सोचती है कि मानवता की सच्ची सेवा तो प्रेम है। जो इंसान को इतनी सुन्दर दुनिया से काटकर अलग कर दे वह कैसा धर्म है? उसके लिए धर्म का अर्थ है दया, करुणा, प्रेम और ममत्व। अपने इस धर्म का पालन कभी वह बौद्ध मठ के अस्पताल में रोगियों की दवा करके करती है तो कभी हर की पैड़ी पर कोढ़ी दड़ी की सेवा करके, कभी सुजान के फालिज और 'फिट्स' की या तपेदिक के असाध्य रोगों की दवा करके अथवा कॉलरा के बीमार हरिपदम की सेवा करके। इसी द्वन्द्व में दर्पन कई बार अपने उस बौद्ध मठ को छोड़कर न जाने कहां-कहां घूमती फिरी। हरिद्वार ऋषिकेश, बद्रीनाथ, रामेश्वरम्, वृन्दावन, कलकत्ता, बम्बई, काशी इत्यादि। वर्षों तक वह दार्जिलिंग से बाहर रही। उसके मनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच एक द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। वह प्राय सोचती है, 'स्वर्ग यदि मन को स्वर्ग के समान न लगे, मुक्ति यदि प्राणों को शान्ति न दे सके, हृदय यदि सारे सुखों के बावजूद मृग के समान दूर कानन में भटकता फिरे, तब उसकी क्या गति होगी।'[1] एक यात्रा के दौरान दर्पन की भेंट हरिपदम से उस समय हुई जब हरिपदम को भयानक कॉलरा हो गया था और उसे एक अनजान स्टेशन पर उतार दिया गया था। तब अनेक अजनबी लोगों में से एक दर्पन ही थी जो मृत्यु के उस संघर्ष में उसके साथ खड़ी थी। उसके बाद समय का एक-एक क्षण उन्हें निकट लाता गया, बांधता गया और भिक्षुणी दर्पन अचानक एक मुसस्कृत युवती पूर्वी बन गई। वह विकास क्षेत्र सारनाथ में महिला मंगल सहायक विकास अधिकारी हो गई। यह नाटककार की दृष्टि और नाट्यानुभूति की पहचान का प्रमाण है कि उसने इस चरित्र को इसी नाटकीय और तीव्र द्वन्द्वात्मक बिन्दु से उठाया है और उसके इस पूर्व-जीवन परिचय को पृष्ठभूमि में छिपा रखा है। दर्पन का यही वह नाटकीय धरातल जहां से पूर्वी अपने-आपको अपने नये रूप में जीवित रखने के लिए अपने अतीत से और अपने मूल में छिपी हुई भिक्षुणी दर्पन से निरन्तर संघर्ष कर रही है जूझ रही है, लड़ रही है। वास्तव में यह नाटक उसकी अपने-आप से पहचान का नाटक है। पूर्वी और दर्पन की यह लड़ाई पहली बार नहीं हो रही है, शायद यह एक चिरन्तन द्वन्द्व है—प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच चुनाव का द्वन्द्व, जो प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में मानव-मन को मथता आता है। नाटक में पूर्वी ने 'दर्पन' का परिचय अपनी एक साथ छोटी सगी बहन के रूप में दिया है। पूर्वी कहती है कि दर्पन से उसकी सगाई

---

1. दर्पन : पृ० ४८

'बहुत बार हुई है। मैं उससे इतनी दूर चली आई हूं तब भी मुझे लगता है कि मैं अब भी उससे लड रही हूं।'[१] और हरिपदम को भी अक्सर 'ऐसा लगता है जैसे वह (दर्पन) भी हमारे ही बीच मे है। जैसे मैंने उसे देखा है, बहुत देखा है।'[२]

तीखे सवालो की शंका और अविश्वास की धार सूलों पर जैसे उसका मन प्रति क्षण लटकता रहता है। अपने अतीत और दर्पन के प्रतीक रूप मे बची अपनी डायरी को जलाते हुए उसके सवाद मे पूर्वी के मन की जलन और प्रतिशोध की लपटें दर्शक-पाठक के मन को भी झुलसा देती है—

'मेरा पीछा करने वाली। तू नही जानती मैं क्या हूं। मैं सोचती थी तू खत्म हो गई, पर तू इस कदर मेरे पीछे लगी है। अपराधी ˙ निर्मम ˙˙(कापी को फाडने लगती है) हत्यारी! तुझे अब जिन्दा नही रहने दूगी। मैं हूं नियता अपने इस जीवन की। तेरा यह जड अस्तित्व मे अब नही रहने दूगी।'[३] फटे हुए कागजो में आग लगा देती है—'जा अपनी इस चिता की आग मे भस्म हो जा। तेरा कोई चिन्ह, नही ˙ कोई स्मृति नही, कोई पहचान नही।'[४] तमाम धब्बे और निशानो को मिटा कर, राख मे पानी डालकर वह आश्वस्ति भाव से कहती है—'मिट्टी पलीद कर दी।'[५] और हसती है। परन्तु शीघ्र ही उसे लगता है कि कहानी खत्म नही हुई।[६] उद्वेगावस्था की अपनी प्रसगहीन कहानी मे भी प्रतीकात्मक रूप से वह अपनी ही कहानी कहती है --एक चिड़िया थी˙˙˙एक बिल्ली थी एक जंगल था˙˙ ˙˙˙जगल में एक राजकुमार आया ˙ चिड़िया उसके कंधे पर आकर बैठ गई˙˙˙ बोली, मेरे सग खेलो राजकुमार˙˙। जंगल हसने लगा। बिल्ली रोने लगी। जंगल हसने लगा और चिड़िया ˙।[७] और फिर – जंगल मे आग लग गई, और वह आग लगी कैसे? उसी चिडिया ने लगाई, ठीक है न।[८] इस कहानी मे चिडिया स्वयं पूर्वी, बिल्ली, दर्पन, राजकुमार, हरिपदम और जंगल उनका ससार है। जिसके विषय मे उसे सदैव भय रहता है कि वह स्वयं उसे जलाकर राख कर देगी। विभ्रम की सी अवस्था मे पूर्वी को लगता है जैसे उसके कानों में कोई रो रहा है। यह वस्तुतः उसके अन्त करण की दर्पन ही है।

पूर्वी के चरित्र में कही यह अपराध-ग्रन्थि भी है कि वह दर्पन के रूप को छुपा कर हरिपदम के साथ छल कर रही है। उसे सत्य से डर लगता है और झूठ पसंद है। हरिपदम का अच्छापन, उसका पूर्वी पर अगाध विश्वास और प्रेम हर क्षण उसे परेशान

१. दर्पन : पृ० ४७-४८
२. वही, पृ० ३०
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ०६०
५. वही, पृ० ६१
६. वही, पृ०६४
७. वही, पृ०६२-६३
८. वही, पृ० ६२-६३

करता है ; पूर्वी को पूर्वी की ही दृष्टि में ही अपराधी बना देता है । तभी तो एक वेदनापूर्ण स्वर में वह सुजान से कहती है—'सुजान भइया' । तुम्हारे यह हरिपदम दद्दा इतने इतने अच्छे क्यों है ?' तथा 'पर बहुत अच्छा होना अन्याय नहीं है क्या?'[1] सत्य खुल जाने के भय से ही वह अपरिचिता 'युकाई की तरह हरिपदम की 'पेन-फ्रेंड बनना चाहती है । उनके विश्वास और प्रेम को देखकर पूर्वी भरसक चाहती है कि, 'मैं अपनी आंखों से ओझल हो जाऊं । मैं सिर्फ वही रहूं जिसे तुम सबने इतना प्यार, इतना विश्वास दिया है ।'[2] परन्तु अपने को नियता और अपना भाग्य विधाता समझने वाला मानव क्या कुछ भी कर सकने में स्वतंत्र है ? मनुष्य को बरबस छलने वाली अंध-शक्तियां, नक्षत्र और ग्रह, वंशानुक्रम परिस्थितियां और समाज उसे हर ओर से बुरी तरह जकड़े हुए हैं। उसका अतीत उसके वर्तमान में हर क्षण विद्यमान है, वह उससे कहीं नहीं भाग सकता ।

नाटक के प्रारम्भ में समाचार पत्र में हरिपदम और पूर्वी के 'इंगेजमेंट' का समाचार पढ़कर पिताजी काफी नाराज होते है परन्तु पूर्वी के व्यवहार और हरिपदम की जिद देखकर अनुमति दे देते हैं । पूर्वी विवाहित जीवन बिताने के लिए सारे बंधन मंजूर कर लेती है । दूसरे दृश्य में दर्शन को ढूंढता हुआ दड़ी आता है और पूर्वी घर में छिपकर मत्ती से उसे बाहर निकलवा देती है । उससे पुरानी कापी की बात सुनकर वह उसे जला डालती है । परन्तु कहानी खत्म नहीं होती । दूसरे अंक में हरिपदम की बहिन ममता पूर्वी को दुल्हन के रूप में सजाती है – रिहर्सल के तौर पर । उससे आठवें दिन विवाह की निर्धारित तिथि है । पूर्वी को दुल्हन बनना बड़ा अच्छा लगता परन्तु भीतर-भीतर उसे कोई भय खाए जा रहा है इसलिए वह चाहती है कि सब जल्दी-जल्दी हो जाए । सुजान ममता से आइना लाने को कहता है जिससे पूर्वी इसमें अपना दुल्हन का रूप देख सके । पूर्वी मना करती है परन्तु सुजान और ममता के बहुत कहने पर आइने में अपने को देखती है तो आइना हाथ से गिर कर टूट जाता है, उसे चक्कर आ जाते हैं पूर्वी हथेलियों से अपना मुंह छिपा लेती है । फिर साधारण वस्त्र पहनकर लौटती है । तो तपेदिक का वह मरीज वहां आ जाता है जिसे असाध्य समझकर अस्पताल से निकाल दिया गया था और एक दिन पहले पूर्वी की दया और दवा से कुछ अच्छा हो गया था । हरिपदम और पूर्वी मिलकर उसे भगा देते है । हरिपदम और सुजान विवाह के निमन्त्रण-पत्र लेने चले जाते हैं, पूर्वी अन्दर जाती है कि दड़ी पुन आ जाता है । इस बार पिता जी उसे अतिथि बताकर दर्शन का दार्जिलिंग का पता बता देते हैं । वह चला जाता है परन्तु पूर्वी के आते ही मां मां कहता हुआ उसके चरणों में आ गिरता है । पूर्वी उसे पहचानने से इन्कार कर देती है तथा सुजान और हरिपदम से कहकर वहां से निकलवा

१. दर्शन: पृ० ४४
२. वही पृ० ७१

देती है। परन्तु अनुभव करती है कि 'जब तक हममें कोई विश्वासपूर्ण होने को होता है सहसा तभी कोई उसे भुठला देता है।' और भुठलाने वाला—'वह एक नहीं है कि उसे नाम दिया जाए। वह इतना आसान भी नहीं है कि सहज पकड़ में आए।'[1] वह कभी तपेदिक के मरीज के रूप में, कभी दंडी के रूप में और कभी अनाम, अनजान 'एक आदमी' के रूप में प्रकट होकर पूर्वी को दर्पण दिखा जाता है। बौद्ध मठ के सबसे पुराने कर्मचारी (आदमी) को देखकर पूर्वी चीख पड़ती है और भीतर भागती है। जब लौटती है तो नीचे से ऊपर तक गहरे पीले गेरुआ वस्त्रों में। सिर के केश खुले और प्रतिमा की तरह मौन-अविचल। हरिपदम उसे इस रूप में भी स्वीकार करने को तैयार है परन्तु दर्पन नहीं मानती क्योंकि प्यार का आधार छल नहीं हो सकता। पूर्वी अनुभव करती है कि भरपूर प्रयत्न के बाद भी वह दर्पन को न तोड़ सकी, न जला सकी, न मिटा सकी और इसलिए अब उसे जाना है। जाने से पहले पूर्वी का अंतिम संवाद अत्यन्त मार्मिक, नाटकीय और मनोवैज्ञानिक है—

'बुद्ध ने पहली भिक्षा यशोधरा से मांगी थी। आज मैं पहली भिक्षा तुमसे मांगती हू . । दर्पन आज भिक्षुणी हुई है।'[2] और सचमुच पूर्वी बने बिना दर्पन को दर्पन की पहचान सम्भव नहीं थी।

'दर्पन' नाटक का दूसरा प्रमुख पात्र है—हरिपदम। हरिपदम यूनिवर्सिटी में प्राचीन इतिहास और संस्कृति का प्राध्यापक है। वह नयी पीढ़ी का भावुक युवक है जो पहले मित्रों से अविवाहित रहने की बात करता है परन्तु बाद में सहानुभूति पाकर उसके प्रति आकर्षित हो जाता है। वह एक निश्छल-प्रेमी है और पूर्वी पर अगाध विश्वास रखता है। वह अपनी इस नई शुरू-होती हुई नन्हीं-सी दुनिया को अपनी तरह से जीना चाहता है। उसके लिए जीवन एक आस्था है जो हर क्षण उसे कृतज्ञ करता है। हरिपदम की पूर्वी से विवाह करने की जिद के सामने पिता जी को भी झुकना पड़ता है। अन्त में पूर्वी को भिक्षुणी दर्पन के रूप में देखकर वह अवाक् रह जाता है परन्तु किसी भी दशा में उससे अलग नहीं होना चाहता, इसीलिए कहता है—'तुम कुछ भी हो . तुम्हारा कुछ भी नाम हो . यह सब मेरे लिए कुछ भी महत्व नहीं रखता।'[3] पूर्वी के चले जाने पर वह मूर्तिवत् स्थिर रह जाता है उसे लगता है कि 'दर्पन आज मेरे सामने पारदर्शी हो गया।'[4] हरिपदम का चरित्र एकदम सपाट और बौना है। उसमें न तो कोई द्वन्द्व है और न ही विकास। नाटककार ने सम्भवतः दर्पन के विषम और वक्ररेखीय चरित्र को और अधिक उभारने के लिए ही उसके विरोध में इस सरल रेखीय सपाट पात्र की सृष्टि की है।

१. दर्पन : पृ० ८६-८७
. वही, पृ० ६४
.. दर्पन : पृ० ६४.
४. वही, पृ ६५.

अधिक स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण स्वरूप प्रदान किया गया है। प्रथम संस्करण में लेखक ने इस पात्र द्वारा परिवर्तित परिस्थितियों की अनिश्चितता और मोह विवशता को ही दिखाया था परन्तु इस संस्करण में पुत्रों के साथ पिता जी के जिस बड़े रूप की कल्पना लेखक ने की है वह उन्हें एक वास्तविक और यथार्थ व्यक्ति बना देती है। उनमें पुत्रों के प्रति यदि क्रोध और क्षोभ है तो उनके लिए उनके मन में स्नेह और सहानुभूति भी है। उन्हें उनके भविष्य की, प्रतिष्ठा की चिन्ता भी है। उन्होंने हरिपदम के लिए एक मकान लेता है। 'पिता जी' जीवन भर सरकार के नहर विभाग में ओवरसियर रहे। कभी बेईमानी नहीं की, न कभी रिश्वत ली। पुत्र को एम० ए० तक पढ़ाया और सुजान के लिए एक छोटा-सा घर भी बनवा दिया। उन्हें अभी अपनी बेटी ममता की भी शादी करनी है इसलिए वह चाहते हैं कि हरिपदम उनकी इच्छा से किसी ऊँचे खानदान में विवाह करे। परन्तु अपनी मनमानी और जिद का परिणाम वह सुजान के मामले में देख चुके हैं। अतः जब उन्हें लगता है कि हरिपदम पूर्वी से ही विवाह करने को कटिबद्ध है तो वह कह देते हैं —"तुम समझते हो कि पूर्वी तुम्हारे जीवन के लिए बिल्कुल ठीक है, तो यही मेरे लिए खुशी है।"[1] दोनों को आशीर्वाद देते हैं और मिठाई खिलाते हैं। परन्तु दोनों के विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के बाद भी पूर्वी के विषय में वह पूर्णतः आश्वस्त नहीं हो पाते और बार-बार उन्हें लगता है कि कहीं कुछ रहस्य अवश्य है और समय मिलने पर वह पूर्वी से पूछताछ अवश्य करते हैं। उन्हें बार-बार लगता है कि इतनी दया और करुणा वाली 'प्रकृति की लड़की के लिए ब्याह, घर, गृहस्थी का कुछ मेल नहीं खाता।'[2] कभी तपेदिक के रोगी से और कभी दर्पण से बातचीत करके वह अपनी धारणा को पुष्ट करते हैं। अन्त में उन्हें पूर्वी को दर्पण के रूप में देखकर इतना आश्चर्य नहीं होता वह हरिपदम से यह कहकर अन्दर चले जाते हैं कि 'अब पहचान लो अपनी पूर्वी को।'[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि पिता जी के चरित्र में लेखक ने अनेक रंग भरे हैं। यह पात्र निस्संदेह दर्पण के बाद इस नाटक का सबसे अधिक वास्तविक और जीवन्त चरित्र है।

बैसाखी के सहारे हुआ पच्चीस वर्ष का युवक, कुर्ता-पाजामा पहने, अस्त-व्यस्त केश, दाढ़ी बढ़ी हुई—यह है सुजान। किसी समय सुजान उपमा से प्रेम करता था और कविता लिखता था। दोनों ने विश्वनाथ जी के मंदिर में जाकर कहा था—'हमारा ब्याह होगा।' परन्तु पिता जी ने ब्याह नहीं होने दिया। उसी वर्ष उपमा बीमार पड़ी और मर गई। तब से सुजान बुखार में पड़ा है। उसी में इसके दाएं

१. दर्पण : पृ० २७

२. वही, पृ० ७३

३. वही, पृ० ६३

अंग पर फालिज गिरी और 'फिट्स' पड़ने लगे। अब सुजान पूर्वी के स्नेह और उसकी दवा एवं सेवा से काफी कुछ ठीक हो गया है। सुजान के पास बैठने से पूर्वी को बहुत बड़ी शक्ति मिलती है, विश्वास प्राप्त होता है। सुजान को भी पूर्वी से आस्था और शक्ति मिलती है। नाटक मे सुजान पूर्वी का अन्तरंग है और वह कॉपी जलाने, पूर्वी के दुल्हन बनने तथा दर्पण टूटने जैसी महत्वपूर्ण घटनाओ का साक्षी है।

ममता बी० ए० की छात्रा और हरिपदम की बहिन है। पहले दृश्य मे वह हरिपदम और पूर्वी को मुबारक बाद देती है और दूसरे अंक में पूर्वी को दुल्हन के रूप मे सजाती है और उसे आईना दिखाती है। नाटक मे ममता का केवल एक ही चेहरा है—ननद का चेहरा।

मत्ती घर का पुराना नौकर है और दंडी, तपेदिक के रोगी तथा 'एक आदमी' का उपयोग नाटककार ने पूर्वी के चरित्र को उभारने तथा उसे दर्पन के रूप की पहचान कराने वाले दर्पण के रूप मे किया है। दंडी को हरिद्वार में पूर्वी ने कोढ से छुटकारा दिलाया था और नास्तिक से आस्तिक बनाया था। वह पत्रिका मे लेख के साथ छपे पूर्वी के फोटो और पते को देखकर उसे ढूढता हुआ यहा आ पहुँचता है। 'एक आदमी' बौद्ध मठ का सबसे पुराना कर्मचारी है और दर्पन को तब से जानता है जब वह बौद्ध मठ को दान की गई थी। वह हरिपदम द्वारा दर्पन को लिखी गई चिट्ठी के आधार पर दर्पन को ढूढने यहां आ पहुँचता है।

'दर्पन' की मनोवैज्ञानिक जटिलता और उसके दोहरे व्यक्तित्व का चरित्रांकन नाटककार ने अत्यन्त सफलता से किया है। उसके चरित्र के विभिन्न मोड प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित किए गए हैं। दर्पन के अतिरिक्त सुजान भी नाटक का सशक्त पात्र है और शेष सभी पात्र अपना निजत्व रखते हुए भी 'दर्पन' को ही अभिव्यक्ति देने के लिए पूरक पात्रों के रूप में प्रयुक्त किए गए हैं।

में इस परम्परागत रूपों में ही प्रस्तुत किया जाता रहा है। परम्परा का महत्व इसी में है कि इसे काल-क्रम, देश-काल और नवीन जीवन-सन्दर्भों में इसे देखा-परखा जाय, तभी परम्परा जीवित रह सकती है।

डा० धर्मवीर भारती के अन्धा युग में यदि व्यास के उस महायुद्ध की कथा और जीवन-मूल्यों को आधुनिक युग के सन्दर्भ में तथा आधुनिक संवेदना के आधार पर प्रस्तुत किया गया है तो डा० लाल के सूर्यमुख में उन चरित्रों और उनके पारस्परिक जटिल सम्बन्धों, मधुर मनःस्थितियों और गहन अन्तर्द्वन्द्वों का, विश्लेषण आधुनिक सन्दर्भ और संवेदना के साथ मनोविश्लेषण के आलोक में मानवीय धरातल पर किया गया है।

फ्रायड मनोविश्लेषक और साहित्य समीक्षक आटो रैंक ने एक बहुत मूल्यवान गवेषणा-कार्य में यह दिखाया है कि सब युगों के नाटक-लेखकों ने अपनी सामग्री मुख्यतः ईडिपस तथा निषिद्ध-सम्भोग-ग्रन्थि और इसके परिणमनों तथा छिपे हुए रूपों से ली है।[1] सूर्यमुख की नायिका बेनुरती स्वीकार करती है कि 'हर प्रिया मूलतः मां है' और नाटक इसी सन्दर्भ से प्रद्युम्न (कृष्णपुत्र) और बेनुरती (कृष्ण की अन्तिम रानी) के प्रेम द्वारा इसके गहन आत्म साक्षात्कार के माध्यम से पुराण कथा के सन्दर्भ में आधुनिक युग-बोध का सशक्त नाटक बनता है।

युद्धोत्तर कालीन द्वारिका में अब न महापुरुष कृष्ण हैं न बलराम, न महाभारत काल के वे महायोद्धा और न वे ऋषि मुनि। अब वहां उत्तर-महाभारत काल की

१. फ्रायड मनोविश्लेषण : पृ० ३१०

विद्रोही युवा पीढी है, जिनका विरोध सबसे है, पर उस राज्यमत्ता या शक्तिसत्ता से नही जिसने उन्हे परस्पर गुटो मे बाटकर युद्ध के लिए विवश किया है। सभी इसे 'भोग का समय' समझ रहे हैं और कृष्ण के हत्यारे जरा को अपने शक्ति-संधान का हेतु बनाना चाहते हैं। उधर काल-समुद्र द्वारिका को डुबोता चल रहा है। इस सब के बीच प्रदुम्न और वेनुरती का अप्रतिम आश्चर्यजनक प्रेम गहन अंधकार के बीच लौ की तरह अकेला जल रहा है। सूर्यमुख प्रतीक रूप मे आत्म साक्षात्कार की स्थिति का द्योतक है। नाटक के प्रमुख प्रसंगो को पुराण कथाओ की लीक पर बैठाने और इसके पात्रो को बने-बनाए सांचो में 'फिट' करने का प्रयास करने वालो को विश्वास के स्तर पर सूर्यमुख गहरी ठेस पहुंचाता है[1] तो नाट्यकार का यह प्रयोग' सफल समझना चाहिए क्योकि 'नवलेखन मूलत: वही है जो पाठक को विक्षुब्ध कर दे, उसकी चेतन-अचेतन समाधिस्थता को तोडकर उसकी ग्रहणशीलता को व्यापक और सघन बनाए। नवलेखन का कोई मूल्याकन उसके इस उद्देश्य और इस प्रकृति को समझे बिना असभव है।'[2] मन में धर्म-भावना लेकर साहित्य का अध्ययन अथवा मूल्याकन करना धर्म और साहित्य दोनो के प्रति अन्याय है। नाटक का मूल्याकन वास्तव मे नाटक में व्याप्त नाटकीय परिवेश और पात्रो के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर ही होना चाहिए, किन्ही बाह्य आरोपित आधारो पर नही।

चरित्र-सृष्टि के धरातल पर यह नाटक पात्रों के बने बनाये परम्परागत सांचों को तोडता है। कृष्ण, प्रदुम्न, साम्ब बभ्रु, अर्जुन, व्यास पुत्र तथा रुक्मिनी से परम्परागत उदात्त चरित्रो को नाटककार ने सामान्य मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। प्रदुम्न (प्रद्युम्न) और वेनुरती सूर्यमुख के केन्द्रीय-पात्र हैं। महल मे पाव रखते ही कृष्ण की अन्तिम पत्नी वेनुरती ने प्रदुम्न को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। प्रदुम्न ने वेनुरती को केवल एक स्त्री और वेनुरती ने प्रदुम्न को केवल एक पुरुष के रूप में चाहा। 'वेनुरती मंत्र की तरह प्रदुम्न पर छा गई। कृष्ण ने वेनुरती के लिए संघर्ष किया। प्रदुम्न के शब्दो मे 'जो भागवत प्रेम के प्रतीक थे, उसी कृष्ण ने साधारण मनुष्य की तरह मुझसे वेनुरती के लिए युद्ध ठाना था। एक ओर कृष्ण सा मनुष्य, दूसरी ओर मैं और बीच में वेनुरती। अपशब्द कहते हुए उन्होंने मुझपर आक्रमण किया था—मेरे अंक से वेनुरती को छीन लेने के लिए।'[3] प्रदुम्न और वेनुरती एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं और युग-युगान्तर से एक दूसरे के लिए ही जन्म लेते रहे हैं—कभी काम और रति बनकर कभी अनंग और अनंगवती होकर; परन्तु इस जन्म मे वह विपरीत (मां और पुत्र के रूप मे) बनकर आमने-सामने हैं। यही कारण है कि अपने 'मानवीय और सहज प्रेम के लिए दोनों को दण्डित होना पड़ता है—

१. [illegible], पृ० २६
२. प्रतिभा अवदान धर्मयुग : २७ जुलाई, १९६८, पृ० १८ तथा ४६
३. बदलते परिप्रेक्ष्य नेमिचन्द्र जैन : पृ० ४८

वेनुरती की महल में रहकर प्रताड़ना, व्यंग्य और घृणा सहकर तथा प्रद्युम्न को नाग-कुण्ड की पहाड़ियों में निर्वासित होकर। यहां तक कि रुक्मिनी भी स्वयं को उसकी जननी कहती है या नहीं। परन्तु प्रद्युम्न और वेनुरती का संघर्ष केवल बाह्य और स्थूल नहीं है वह एक-दूसरे को पाने के लिए अपने भीतर किन्हीं सूक्ष्म धरातलों पर भी निरन्तर अपने-आप से लड़ रहे हैं। वेनु के भीतर लज्जा का सर्प कुण्डली मार विचरण करता है। वह प्रद्युम्न के परिरम्भ में कांप-कांप उठती है। प्रद्युम्न भी उसके मिलन से लज्जित होता है और दोनों भयभीत रह जाते हैं। उनका विश्वास ही उन्हें सन्देह में डालता है, उनकी शक्ति ही उन्हें निर्बल बनाती है। वेनु को बार-बार अपने विपरीत सम्बन्धों की बात काटे की तरह सालती है –फिर नया जन्म होता है, पर समाज हमारे जन्म के पहले ही हमारे सहज को विपरीत सम्बन्धों के कारागार में बंदी कर देता है।[1] प्रद्युम्न में भी भय और संशय है। उसे लगता है कि उसके पिता उसी से टूटकर निर्जन वन में 'आत्महत्या' करने गए होंगे। इस अपराध-भाव के कारण ही उन्हें प्रतीत होता है कि उनके मिलन द्वार पर कोई रास्ता रोके खड़ा है, वह कृष्ण-पुत्र सदैव उनके बीच खिंचा रहता है, संशय की काली रात उन्हें घेरे रहती है। फ्रायड का विचार है कि सारी मनुष्य जाति की अपराध-भावना, जो सारे धर्म और नैतिकता का मूल स्रोत है, इतिहास के आरम्भ में ईडिपस-ग्रन्थि के द्वारा ही प्राप्त की गई होगी।[2] प्रद्युम्न के अन्तर्मन का गहन द्वन्द्व इन शब्दों में स्पष्ट हो उठा है –"मेरे भुजपाश-चक्र में लिपटे हुए संशय, इन अस्त्रों से कट जाएंगे, पर जो मेरे गहन अन्तस में बैठे हैं, वे छाया चित्रों की तरह उभरकर मेरे ही सामने आयेंगे, उन्हें कौन अस्त्र काटेगा ? जहां शत्रु अदृश्य है, वे युद्ध इन शस्त्रों से किस तरह लड़े जायेंगे ? जो अस्त्र मुझे हर क्षण बांधते जा रहे हैं, लगता है यही मेरी विजय में पराजय के साक्षी होंगे।"[3] फिर भी प्रद्युम्न को लगता है। कि इन अन्तर्विरोधों के बीच ही वेनुरती को पाया जा सकता है। इस अन्तर्विरोधी के पथ से चलकर ही उनका मिलन सम्भव है। वेनु को लेकर वह उस नये धर्म को ढूंढना चाहता है जो द्वारिका की रक्षा करेगा और इस प्रकार को बेघकर चमकेगा। नाटककार ने इनके प्रेम को उचित और धर्म-सम्मत सिद्ध करने के लिए, कभी वृद्ध द्वारा 'कृष्ण तनय होइहै पति तोरा, वचन अन्यथा होइ न मोरा' कहलवाया है तो कभी दुर्गपाल से उनके प्रेम की प्रशंसा कराई है। दुर्गपाल साम्ब से कहता है—नहीं, कृष्ण अब अतीत हैं। वर्तमान अब तुम हो। और वह प्रद्युम्न भविष्य है। वह नया है। सूर्यमुख है वह। उसने इस प्रकार में प्रेम का एक नया मनवन्तर प्रारम्भ किया है।[4] ऊपर से कृष्ण का विरोध करते हुए भी

१. सूर्यमुख : पृ० ५६
२. फ्रायड मनोविश्लेषण, पृ० ३०४
३. वही, पृ० ८०
४. सूर्यमुख : पृ० १३

प्रदुम्न मूलत. कृष्णमय है। वेद, लोक और परिवार की रूढ़ियों को तोड़कर गोपी-प्रणय करके कृष्ण ने पूर्व-मर्यादाओं का खण्डन किया था परन्तु बाद में कृष्ण ने अपनी क्रांति की इस प्रक्रिया को अक्षुण्ण बनाए रखने की मान्यता को अस्वीकार करके पुन धर्म, लोक-व्यवहार एवं परिवारों की रूप-रचना कर उसे शास्त्रीयता के बन्धन मे बाधना चाहा। प्रदुम्न उस शास्त्रीयता को ही तोड़ रहा है, कृष्ण के कार्य को आगे बढा रहा है। यही कारण है कि वह स्वयं चाहे कुछ भी हो पर किसी और को कृष्ण के विरुद्ध नही सह सकता।

चरित्र-विकास की दृष्टि से सूर्यमुख के प्रथम दृश्य मे भिखारी रुक्मिनी के हाथ मे दान लेने से इकार कर देते है क्योंकि वह उस 'अधर्मी', 'पशु', 'नराधम' प्रदुम्न की जननी है जिसने अपनी मां वेनुरती को अपनी प्रिया बनाया है और निर्वासित होकर भी मुखौटा लगाकर अमावस्या की रात को राजमहल में वेनुरती से मिलने आता है। भिखारियों की इस प्रतिक्रिया द्वारा लेखक नाटक के मूल द्वन्द्व और प्रदुम्न के प्रति जन-सामान्य की घृणा का सकेत कर देता है। इसी दृश्य के अन्त मे दुर्गपाल द्वारा प्रदुम्न को सूर्यमुख और भविष्य कहलवाकर दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत कर दिया गया है। दूसरे दृश्य में व्यास पुत्र और प्रदुम्न के वार्तालाप द्वारा वेनु के प्रति प्रदुम्न के सच्चे और दृढ़ प्रेम के संकेत मिलते है तथा दृश्य के अन्त मे वेनुरती की प्रेरणा से प्रदुम्न अपने मुखौटे को तोडने और नागकुण्ड की पहाडियों को छोडकर द्वारिका आने को तैयार हो जाता है। तीसरे दृश्य मे प्रदुम्न अपना मुखौटा तोड़ डालता है। वभ्रु आदि से जरा को मुक्त कराता है। 'वृद्ध' के गीत द्वारा प्रदुम्न के प्रेम को धर्म-सम्मत बताया जाता है और कृष्ण-मृत्यु के प्रसंग मे जरा भी कहता है—कृष्ण ने तड़पते हुए बारबार कहा, 'मेरी द्वारिका का रक्षक केवल प्रदुम्न था।'[1] तथा कृष्ण ने अन्तिम समय प्रदुम्न को अपनी आशा और उत्तराधिकारी कहा था। भावावेश और क्रोध में प्रदुम्न वेनुरती को 'निर्लज्ज' और 'विश्वासघातिनी' कहता है तथा वेनु उसे अपना प्रथम और अन्तिम प्रेम कहकर विश्वास दिलाती है। दृश्य के अन्त मे जरा और साम्ब की बातो से दु.खी प्रदुम्न को लगता है कि 'हर प्रेम एक दण्ड है' और उसे ग्लानि का अनुभव होता है।

दूसरे अक के प्रथम दृश्य में वेनु और प्रदुम्न के पारस्परिक जटिल सम्बन्धो और अन्तर्द्वन्द्वों का उद्घाटन होता है। किस प्रकार वह मिलकर भी नहीं मिल पाते। प्रदुम्न का संशय और वेनु की लज्जा उन्हें भयभीत करते हैं। उनके बीच सदैव वही कृष्ण-मुख खिचा रहता है। फिर भी प्रदुम्न का विश्वास है कि 'दुःखी मत हो, वेनु। हम स्वयं अपने-अपने विरोध हैं। लगता है, इसी अन्तर्विरोधी के पथ से ही चलकर हमारा मिलन सम्भव है।'[2] दूसरे दृश्य मे प्रदुम्न अकेला नगर की रक्षा में मुद्धरत

१. सूर्यमुख : पृ० ३८
२. वही : पृ० ३८

वेनुरती और प्रदुम्न दोनों को लड़ना पड़ता है। युद्ध में वेनुरती घायल होती है और प्रदुम्न वभ्रु को पराजित करके घायल अवस्था में टूटी तलवार लिए आता है। यही वेनु और प्रदुम्न अपने-अपने प्रश्नों के संशय और द्वन्द्वों के उत्तर पाते हैं। अन्ततः प्रदुम्न आत्म-साक्षात्कार करता है और कहता है—'हमारे संशय निर्मूल थे। हमारे भय अर्थहीन थे।'[1] प्रदुम्न उस अभिशप्त राजमुकुट को अर्थहीन पर आकर्षक प्रतीक की तरह बौने ठूठ पर टांग देता है। अन्त में सारी यदुस्त्रियां प्रदुम्न और वेनु के निश्चेष्ट शरीरों की परिक्रमा करके द्वारिका के पथ पर मुड़ जाती हैं।

जो समीक्षक प्रदुम्न-वेनुरती के प्रेम-प्रसंग को असंगत, अशोभन और अनैतिक मानते हैं उन्हें हम फ्रायड के शब्दों में केवल यही कहना चाहेंगे कि जिस आदमी ने अपने बारे में सच्ची बात समझना और पहचानना सीख लिया है, उसे अब अनैतिकता के खतरों से लड़ने का बल प्राप्त हो गया है, चाहे उसका नैतिकता का मानदण्ड कुछ दृष्टियों से प्रचलित मानदण्ड से भिन्न ही क्यों न हो।[2]

प्रदुम्न और वेनुरती के अतिरिक्त रुक्मिनी और दुर्गपाल की भूमिकाएं भी नाटक में काफी महत्वपूर्ण हैं। रुक्मिनी के रूप में नाटककार ने नारी के—स्त्री, पत्नी, मां, राजमहिषी, आदि विभिन्न रूपों को सुन्दरता से उजागर किया है। इस पात्र को भी लेखक ने पौराणिक-उदात्त धरातल से उतारकर वास्तविक-यथार्थ मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है। रुक्मिनी प्रदुम्न की जननी है इसलिए भिखारी उसके हाथ का दान लेना अस्वीकार कर देते हैं। फिर भी रुक्मिनी दीन-दुखियों के लिए दया से भरकर राजकोश के आधे अन्न को नगरवासियों में बांटने का आदेश देती है। परन्तु जिस परिस्थिति और प्रसंग में तथा जिन शब्दों में दुर्गपाल को यह आदेश दिया गया है उससे ऐसा भी ध्वनित होता है जैसे वह जनता का मुंह बंद करने के लिए दिया जाने वाला घूस हो। पत्नी रूप में वह जरा के मुख से कृष्ण का अन्तिम वृतांत सुनने को आतुर है तथा नाटक के अन्त तक कृष्ण का पक्ष लेकर चलती है। एक ओर भागवत पति, दूसरी ओर भागवत पुत्र, इसी द्वन्द्व में रुक्मिनी के चरित्र का विकास होता है। प्रदुम्न की मां होने के कारण वह प्रेम का सारा दोष वेनुरती को ही देती हैं। वह कहती है—मेरे कृष्ण फिर अपनी इस द्वारिका में नहीं आए, इसका कारण वही वेनुरती है, जिसने कृष्ण के मन-प्राण को तोड़ा, जिसने उनके मर्म को घायल कर उन्हें इतना अकेला और विवश बनाया। महाभारत के युद्ध में मेरे प्रभु इस वेनुरती से टूटकर गए थे, तभी वहां उनकी गीता में फल के प्रति इतनी उदासी, वैराग्य और उनका निष्काम के प्रति इतना आग्रह है।[3] अपने इस कथन में रुक्मिणी अपनी प्रतिक्रिया में कृष्ण को छोटा नहीं बनाती अपितु एक मनोविश्लेषक

१. सूर्यमुख, पृ० ११८
२ फ्रायड मनोविश्लेषण : पृ० ३६७
३. सूर्यमुख : पृ० ६६-६७

[illegible] अपना-अपना [illegible] है । [illegible] में युद्ध करता हुआ 'मा के प्रियतम' प्रद्युम्न को विजयी होने का आशीर्वाद देती है । रुक्मिणी का चरित्र अत्यन्त जीवन्त और गतिशील है उसके चित्रण में अनेक रंग-रेखाओं का प्रयोग करके एक जटिल चरित्र बना दिया है ।

रुक्मिणी के जटिल चरित्र के विपरीत दुर्गपाल का चरित्र अपने स्वरूप में सीधा और सपाट है, उसमें कोई गम्भीर द्वन्द्व नहीं है फिर भी नाटक में उसकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि द्वारिका में जब सब अपने-अपने अधिकार के लिए उन्मत्त है, केवल दुर्गपाल ही अपने कर्तव्य और दायित्व में संलग्न है । नाटककार ने इस पात्र का उपयोग कभी सूचना देने के लिए, कभी स्वगत से बचने के लिए अन्तरंग पात्र के रूप में, कभी प्रद्युम्न का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए और कभी दूसरों को कर्तव्य बोध कराने के लिए किया है । दुर्गपाल की वाणी का विवेक और साहस

---

१ वही, पृ० ७३
२ वही, पृ० ८८
३ वही पृ० १०३
४. वही, पृ० १०३

अर्जुन को भी आत्मसमर्पित कर देता है तो वभ्रु भी उसकी बातों से प्रभावित होता है। वह अपने कर्तव्य के प्रति इतना अधिक समर्पित है कि उसका नाम, पद, धाम सब 'दुर्गपाल' बन गया है। दुर्गपाल के चरित्र का रहस्य बहुत कुछ उसके विषय में कहे गए वभ्रु के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—'तुम आदमी नहीं, केवल समझदार हो।'[1] लेखक की धारणाएं और उसकी मान्यताएं नाटक में सबसे अधिक इसी पात्र के माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं। द्वारिका के नश्वर नगर में केवल दुर्गपाल का अर्थ ही नश्वर नहीं होता। वह स्वीकार करता है कि स्वयं से युद्ध से बढ़कर मनुष्य का दूसरा सौभाग्य नहीं हो सकता परन्तु स्वयं उसके चरित्र में कोई युद्ध नहीं है। वह अपने पूर्व-निर्धारित कर्त्तव्य पर सीधा चला चलता है, उसमें कहीं कोई सन्देह, भ्रम या शंका नहीं है। सबका मर्म बूझते रहने वाले वृद्ध की भूमिका भी कुछ इसी प्रकार की है। जरा का उपयोग नाटककार ने वभ्रु और प्रद्युम्न के चरित्रों के विरोध को स्पष्ट करने के लिए किया है। जरा के संवादों में प्रद्युम्न के आन्तरिक द्वन्द्व को तीव्र करने का कार्य भी लिया गया है। यह जरा अपनी नाटक की कथा से हटकर धीरे-धीरे उसके पात्रों में समाता चला जाता है।

अपने को भोजवंशी कहने वाला वभ्रु और शिनिवंशी यादवों का नायक साम्ब—दोनों अपने-आप को कृष्ण-पुत्र नहीं कहना चाहते। इनकी नियोजना लेखक ने प्रद्युम्न के बाह्य-संघर्ष का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करने के लिए की है। दोनों जरा पर अधिकार करके उसे दण्ड देने का श्रेय पाना चाहते हैं। नगरवासियों के समक्ष उसे प्राण दण्ड देकर शान्ति-संधान का हेतु बनाना चाहते हैं। महाभारत के युद्ध के बाद का यह समय वह अपने भोग और अधिकार का समय समझते हैं। वभ्रु, स्वार्थी, क्रूर, हिंसक अविवेकी और हत्यारा है। वह साम्ब को पराजित करके जरा की हत्या करना चाहता है परन्तु प्रद्युम्न उसे बचा लेता है। अर्जुन से वह द्वारिका की *असंख्य विधवाओं के पुनर्विवाह की बात करता है। कृष्ण के प्रति* उसके मन में घृणा है। वह कहता है—'शृंगारी पिता यदि देश की सारी सुन्दरियों से ब्याह कर ले और स्वयं चुपचाप दिवंगत हो जाय ..।'[2] वह मुखौटे लगाकर यदुवंशियों से संस्कृति, इतिहास, परम्परा, अतीत आदि सभी का मजाक उड़वाता है। युद्ध में न जीत पाने पर द्वारिका में बूढ़े, बच्चों और स्त्रियों सहित आग लगा देता है। नाटक के अन्त तक वह प्रद्युम्न के विरुद्ध खल-नायक जैसी भूमिका निभाता है और प्रद्युम्न और वेनुरती की मृत्यु का कारण बनता है।

इसके विरुद्ध साम्ब का चरित्र अधिक सशक्त और महत्वपूर्ण है। नाटक के आरम्भ में वह भी प्रद्युम्न का विरोधी है परन्तु उसका विरोध अंधा और नितान्त

---

१. सूर्यमुख, पृ० ७४.

२. वही : पृ० ७५.

कहाँ गया ? तब नाटककार के पास अर्जुन उत्तर देगा—मैं मरा अर्जुन हूं। 'सूर्यमुख' के इस नये अर्जुन के प्रश्नों के समाधान के लिए अब कृष्ण नहीं हैं और अब उसे अपने संशय से अकेले जूझने का अवसर मिला है, यह अलग बात है कि नाटक में उसका यह संशय बहुत स्पष्ट नहीं है। वह कृष्ण की आज्ञानुसार यदुकुल की स्त्रियों को हस्तिनापुर ले जाने के लिए आया है परन्तु द्वारिका में आकर वह जैसे स्वयं ही से अपरिचित हो गया है। दुर्दान्त द्वारा उसे कर्तव्य-बोध होता है और रुक्मिनी के कहने पर वेनुरती को पशु की भांति बांधकर अन्य स्त्रियों के साथ ले जाता है। यात्रा में पड़ाव के समय वह दु:खी वेनु को मनाने का प्रयत्न करता है और व्यासपुत्र द्वारा द्वारिका के नाश की सूचना सुनकर रुक्मिनी, अन्य स्त्रियां, साम्ब सभी त्राहि त्राहि कर उठते हैं तब भी अर्जुन के मुख से कोई शब्द नहीं निकलता। नाटककार ने उसकी मुखमुद्रा या प्रतिक्रिया तक का कोई उल्लेख नहीं किया। साम्ब जब व्यासपुत्र को मारकर मुकुट लिए ऊपर आता है तो भयभीत अर्जुन कह उठता है—'मेरे पास मत आना। तूने ब्रह्महत्या की है।'[1] रुक्मिनी द्वारा वभ्रु से युद्ध करने के लिए कहे जाने पर उसका उत्तर है—'मैं असमर्थ हूं, महारानी! मुझमें अब यह गांडीव नहीं उठता। मैं इन सारे प्रसंगों को नहीं समझ पा रहा हूँ।... मनुष्य की मर्यादा अपने यथार्थ की स्वीकृति में ही है। द्वारिका में आकर मैंने आत्म-साक्षात्कार किया।'[2] तथा 'युद्ध मनुष्य को जितनी विजय देता है, उतना ही वह उसे पराजित भी करता है। बस, मेरी यात्रा यहीं तक थी।'[3] कहकर गांडीव को वहीं छोड़कर अर्जुन तेजी से चले जाते हैं। हिंस्र वभ्रु के आक्रमण के समय यादवों को भयानक जंगल में अकेला छोड़ जाना क्या अपने दायित्व से पलायन नहीं है? यह भागना नहीं, अपने को स्वीकार करना है—रुक्मिनी के इस स्पष्टीकरण के बाद भी शंका बनी ही रहती है। अर्जुन के इस निर्वीय, उदासीन और पलायनवादी रूप को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि युद्ध की विजय भी मनुष्य को तोडकर उसे कितना जड और उदासीन और प्रतिक्रियाहीन बना देती है। अर्जुन नाटक का कमजोर पात्र है बड़े-बड़े शब्दों और व्याख्याओं के बाद भी दर्शक के समक्ष उसका चित्र एक नितान्त दुर्बल, कायर और पलायनवादी के रूप में ही उभरता है।

कृष्ण यद्यपि नाटक के पात्र नहीं हैं फिर भी वह अप्रत्यक्ष रूप से नाटक में सर्वत्र विद्यमान हैं। नाटककार ने गीता के सन्देश, महाभारत में कृष्ण की भूमिका

१. सूर्यमुख, पृ० १०८
२. वही, पृ० १०९
३. वही, पृ० १०९

२. सूर्यमुग, धर्मयुग : २७ जुलाई, १९६९ : पृ १८.

अकुलाकर एक पहाड़ी पर जाकर आत्महत्या कर लेता है, किन्तु प्रचारित यह किया जाता है कि उसने वीरतापूर्वक लड़ते हुए अपने प्राण दिए। फिर वह प्रेत बनकर उसी नगर में लौट आता है और अवधूत के रूप में शव-साधना करते हुए जनता पर पुनः आतंक-शासन करता है। तांत्रिक उसका प्रमुख सहायक है। शोषण जनित कष्टों से जनता का ध्यान हटाने के लिए वह उन्हें कल्कि अवतार की स्वप्न-कल्पना देता है। तभी एक दिन अपने अदम्य प्रश्न लिए हेरुप विक्रमविहार से भागकर उसी नगर में आ पहुंचता है और वहां की जनता की सुप्त चेतना को कुरेदकर जगाना चाहता है; परन्तु लोग हैं कि जागने की कोशिश करते हैं, फिर सो जाते हैं। अन्त में हेरुप को अवधूत और तांत्रिक की सम्मिलित शक्तियों से पराजित होना पड़ता है, किन्तु जाते-जाते भी वह प्रश्नों के कुछ बीज वहां बो ही जाता है। इसमें तंत्र-शासन-व्यवस्था का, तांत्रिक प्रशासक का, विक्रम-विहार शिक्षा-व्यवस्था का, चेतनाहीन प्रजा, कलकी भावी युग की काल्पनिक आशा तथा हेरुप उद्बुद्ध स्वतंत्र चेतना का प्रतीक है।

'कलंकी' में चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से सर्वप्रथम आते हैं—उस नगर के सीधे-साधे लोग—तीन कृषक, एक वृद्ध, दो स्त्रियां। ये सहजविश्वासी और प्रश्नहीन लोग एक ऐसा शासक या नेता चाहते हैं जो न केवल इनका शासन और नेतृत्व ही करे बल्कि जो इन्हें सदैव इसी प्रकार शासित होने योग्य बनाए भी रखे। हेरुप के समक्ष रखते ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इनमें केवल अस्तित्व-बोध है, जीवन-बोध नहीं है। सम्भवतः ये चाहते भी नहीं कि कोई इनके जीवन-बोध को जगाए, उसमें इन्हें डर लगता है। वे न बोलते हैं न प्रश्न करते हैं. द्वन्द्व-संघर्ष जैसे शब्द उनके शब्द-कोश में नहीं हैं। वे कलकी के कभी न समाप्त होने वाली प्रतीक्षा में रत हैं क्योंकि उनकी दुनिया अनोखी है और उनका विश्वास असम्भव में है। वे मानते हैं कि 'आत्मानुभव, अब हमारे वश की बात नहीं है।'[1] इनके लिए 'सोचना-विचारना अब व्यक्तिगत, विषय 'नहीं'[2] रहा है। नाटककार के शब्दों में 'कलकी के लोग नगर के नहीं, लोक-जगत् के लोग हैं। निरक्षर, आलसी अंधविश्वासी, परिवर्तन से भयभीत, व्यक्तिगत, निजी सुख-दुःख के लोग। इनका सम्बन्ध सीधे धरती से है। पर यह धरती भी इन्हीं लोगों जैसी है। तभी ये उससे चिपके-जुड़े हुए हैं। इनका आपसी सम्बन्ध भय-प्रीति, सुख दुःख, पाप-पुण्य के आदिम मूल्यों से है। यही इनका भावात्मक स्तर भी है। ये इन्हीं मुहावरों में ही अनुभव करते हैं।'[3] इन आदिम-मूल्यों और लोक-जगत् वाले पात्रों ने नाटक के स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति को भी प्रभावित करके उसे सीधा-सादा

१. कलकी : पृ० २६
२. वही, पृ० ४२
३. वही, पृ० ६२

और कलाहीनता का सत्यानाश पैदा करने वाला बना दिया है। नाटक की भाषा, बोली, गीत, प्रवाह तथा उससे बनने वाले बिम्बों में लोक-धर्मिता का आग्रह है। 'इस नाटक का मन और चित्त, तभी बहुत कुछ आदिवासी लोगों के समान है।'[1]

इन पात्रों से लेखक ने 'कोरस' जैसा कार्य भी लिया है जो नाटक के कार्य को विभिन्न रूपों में आगे बढ़ाता है। ये लोग दिनभर गिरिशिखर पर चढ़ते हैं और संध्या को लौट आते हैं और प्रतिदिन इस यात्रा को फिर से शुरू करते हैं क्योंकि वह ऐसा करने के लिए विवश हैं। नगर के इन लोगों में तीसरे कृषक का सामूहिक रूप के अतिरिक्त एक निजी चेहरा भी है जो धीरे धीरे अपने को प्रकट करता चलता है और नाटक के अन्त में पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। तीसरा कृषक ही सर्वप्रथम अवधूत के आदेश के विरुद्ध हेरूप को वापस न जाने देने की बात करता है, वही हेरूप के पीछे जाने का साहस दिखाता है और अन्ततः वही अकुलक्षेम-अवधूत के सतर्कता से बांधे गए सुदृढ़ तिलस्म को तोड़ता भी है। सामूहिक चेहरे के साथ व्यक्तिगत चेहरा रखने वाले इन पात्रों की सुन्दर कल्पना में कुछ विद्वानों को विदेशी प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिए एक समीक्षक के अनुसार इस नाटक में—

The endless waiting for Kalanki has chunks from Godot; the relentless clambering up the hill everyday by the chorus, has streaks from Camus' Sisyphus, the chorus is Greek in concept, Eliotish in vocation and the whole production is dyed, one suspects, in Artoud's concepts of magic and mystery.[2] वैसे तो किसी भी रचना में इस प्रकार के अनेक प्रभावों को अनायास ही ढूढ़ा और बताया जा सकता है और इस बात से रचना की मौलिकता और उसके मूल्यांकन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता फिर भी इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 'प्रभावित होने या प्रभाव ग्रहण करने की भी एक प्रतिभा होती है और कुछ अवदानों का श्रेय दाता को नहीं, प्राप्ता को मिलना चाहिए।'[3]

अकुलक्षेम—दिवंगत निरंकुश सामंत, इन लोगों का आदर्श राजा था क्योंकि वह इन्हीं के अस्तित्व का प्रतीक और प्रतिनिधि था। वह यथास्थितिवादी था और अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए चाहता था कि उसके राज्य में कोई प्रश्न न करे, प्रस्तुत को सब सहज-स्वीकृति प्रदान करें। इसके लिए वह मध्यकालीन शिक्षकों—धर्माचार्यों और तान्त्रिकों की सहायता लेता है। सामन्त-पुत्र विद्रोही हेरूप को उसके विद्रोह-बोध के दमन के लिए विक्रम-विहार भेज दिया जाता है जहां उसे असह्य

१. कल्की: पृ० ६२
२ Enact : June-1968.
३. हिन्दी साहित्य : आधुनिक परिदृश्य : सच्चिदानन्द वात्स्यायन : पृ० २५

यातनाएं दी जाती हैं। इसी बीच हूणों के आक्रमण से रक्षा में असमर्थ अकुलक्षेम एक पहाड़ी पर जाकर आत्महत्या कर लेता है और एक गौरव गाथा के रूप में अपने अस्तित्व को अमर बनाने तथा शक्तिशाली एवं निरंकुश बने रहने के लिए अपने-वीरतापूर्ण युद्ध और देव-वृक्ष की काल्पनिक कथा प्रचारित बना देता है। फिर वह प्रेत बनकर अवधूत के रूप में उसी नगर में लौट आता है और शव-साधना करते हुए जनता पर आतंक-शासन करता है और लोगों को प्रत्यक्ष एवं यथार्थ से विरत करने के लिए उन्हें कल्कि-अवतार की मादक स्वप्न-कल्पना देता है। अपने सहायक-तांत्रिक के माध्यम से वह नगर में पुनः लौट आए हेरप को अपने मनोनुकूल बनाने का प्रयास करता है परन्तु असफल होने पर उसकी हत्या (!) कर दी जाती है। तीसरे कृषक के लौट आने पर अकुलक्षेम की क्लीवता और कायरता प्रकट हो जाती है। जनता जान जाती है कि अवधूत वास्तव में अकुलक्षेम का ही प्रेत है और उसे चाह कर भी मारा नहीं जा सकता क्योंकि 'मैं (अवधूत) तुम्हीं सब में से जन्मा हूं, तब भी और मृत्यु के बाद भी। मैं तुम सबकी इच्छा हूं।'[१] और कोई स्वयं को अथवा अपनी इच्छा को स्वयं ही कैसे मार सकता है? अवधूत अन्ततः अपने जन्म के लिए जनता को ही दोषी ठहराता हुआ कहता है—"मैं तुम सबसे अपने जन्म के लिए घृणा करता हूं। उसी ने मुझे पशु बनाया। उसी ने मुझसे आत्महत्या करायी वही मुझे प्रेत बनाकर फिर यहां ले आया। दूर हटो। तुम्हें देखकर मेरी इच्छा थूकने की होती है। मेरे मुख का स्वाद भयानक है।'[२] यही मूल प्रश्न उठता है कि जनता को प्रतिक्रियाहीन, जड़ और पलायनवादी बनाने का उत्तरदायित्व अकुलक्षेम का है अथवा अकुलक्षेम को वैसा निरंकुश और यथास्थितिवादी बनाने के लिए जनता उत्तरदायी है? यह सत्य है कि इस स्थिति के लिए जनता की जिम्मेदारी भी कम नहीं है फिर भी 'मनुष्य को पहले दिशाहीन करना, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों निर्वीर्य कर उन्हें शव बना देना, फिर उनकी गणना करते रहना।'[३] तथा 'उनके यथार्थ से उन्हें बैलों की तरह हांककर अयथार्थ के जंगल में डाल देना और हर क्षण संशय को संकल्प में, विद्रोह को स्वीकार में बदलते जाना।'[४] और इस स्थिति को बनाए रखने के लिए नित-नवीन कुचक्रों एवं यातनाओं को जन्म देते रहने के लिए अन्ततः शासक ही उत्तरदायी है। इस सन्दर्भ में समसामयिक जीवन के बहु-आयामी यथार्थ के विभिन्न पक्षों का संकेत नाटककार ने अत्यन्त सूक्ष्म और व्यंजनापूर्ण ढंग से किया है। 'शव' का प्रतीक भी अनेक सम्भावनाओं से युक्त है।

एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है कि प्रत्येक पुत्र अपने पिता के प्रति

१ वनवी : पृ० ५६
२ वही, पृ० ५६
३ वही, पृ० १६
४. वही, पृ० १६

विद्रोह करता है। बचपन से ही विभिन्न प्रश्नों की शरशय्या पर लहूलुहान होते रहने वाला विद्रोही पुत्र हेरूप दण्डित होता रहा, उसकी रक्षा के संघर्ष में उसकी मां को मर जाना पडा, शिक्षा की आड में असह्य यातनाएं भोगकर भी उसने अपने विद्रोह-बोध को मरने नहीं। दिया उसने तंत्र-विद्या की अवज्ञा की और पंचमकार को असत्य कहा। मानव-विवेक को प्राथमिकता देकर शव के स्थान पर मनुष्य की साधना का नारा लगाया और 'हिव क्रि ..हिव... ...क्रि'के अनवरत प्राणवेधी स्वरों में गूंजती आजन्म कारा से भाग खडा हुआ। नाटक के आरम्भ में हेरूप विक्रम-विहार से भागकर आता है और नगरवासियों से अभय मांगता है। वह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उसे नगर से नहीं जाने देंगे। वह उन्हें अपने तथा अपने पिता के विषय में सब कुछ बता देता है। नगरवासी उसे कल्कि-साधना में निरत अवधूत के दर्शन कराते हैं। हेरूप अपनी बालसखी तारा से मिलना चाहता है परन्तु व्यवस्था बाधक बनती है और जनता चाहकर हेरूप की सहायता करने में असमर्थ रहती है। वह अवधूत को सामने आने की चुनौती देता है। उसमें इतना साहस है कि अवधूत के आंतरिक रूप को उसी के सामने बेनकाब कर देता है और स्पष्ट शब्दों में कहता है—"बाहर का तू है, तुझे यहां से जाना होगा।'[1] हेरूप जनता को जागरूक करने का प्रयत्न करता है। वह उसमें स्वयं कलकी के लिए साधना करने को कहता है। हेरूप को सामंत बनाने का प्रयास किया जाता है। उसके अभिषेक का कर्मकाण्ड होता है और नये सामंत के मनोरंजन के लिए जैतवन की जातक कथा का अभिनय किया जाता है। तांत्रिक स्वयं बोधिसत्व बनकर और हेरूप को अज्ञानी कटु-भाषी मृग बनाकर पाप-भव उत्पन्न करने की कोशिश करता है परन्तु हेरूप तांत्रिक पर आक्रमण करता है क्योंकि वह जानता है कि जैतवन में कभी सब मृग समान थे और सभी समान रूप से बोधिसत्व के अधिकारी थे। उसे विश्वास है कि यथार्थ को किसी तांत्रिकता से नहीं, केवल उसका सामना करके ही बदला जा सकता है। वह तथाकथित व्यवस्था का अंग नहीं बनता इसलिए उसे पुनः विक्रम-विहार भेज दिया जाता है और वहां उसकी हत्या कर दी जाती है। किन्तु वह मरकर भी नहीं मरता, क्योंकि वह प्रश्नों के बीज जनता के हृदयों में बो देता है; उन्हें आत्मानुभूति के मार्ग पर चला देता है। इस प्रकार अन्ततः अवधूत जीतकर भी हार जाता है और हेरूप मर कर भी अपराजित रहता है। हेरूप के स्वर में स्वयं नाटककार की आस्था और उसके विश्वास बोलते हैं।

तारा हेरूप की बाल-सखी है। व्यवस्था और परिस्थितियां उसे हेरूप से मिलने नहीं देतीं। हेरूप के अभिषेक के समय तांत्रिक गगनतुला पर इसके कुमार यौवन का भार तौलकर उसे अपवित्र बताता है और उसे गौ आसन में स्थिर करके उसकी

१. कलकी पृ० १६.

है। हेम्प के चले जाने के बाद तारा का प्रेमिका-रूप उभरता है। वह विक्षिप्त-सी हो जाती है और उसे लगता है जैसे—प्रेम की आँधी उसके कंठ में उठ रही है और वह रोकने में असमर्थ है। अतीत की स्मृतियाँ उसे व्याकुल कर देती हैं। तारा को प्रतीत होता है 'वह आया था, हमने उसे नहीं पहचाना।' तथा, वह फिर आएगा। इस बार हम उसे पहचान लेंगे।' तारा जानती है कि हेम्प निर्भीक है, उसे विश्वास है वह अपराजित है। तारा के चरित्र का साहस और उसकी दृढ़ता उस समय स्पष्ट होती है जब वह अवधूत के विरोध में खड़ी होकर कह देती है कि वही हेम्प बन्दी आत्माओं को मुक्त करेगा।' और 'वह नहीं आया तो शव-भरे ये द्वार नहीं खुलेंगे।'[1] हेम्प जग से जाकर भी तारा के मन में सदा विद्यमान है। इन्द्र की हत्या पर तारा में भय नहीं जागता और वह अन्याय, अत्याचार, हिंसा का विरोध करती हुई अवधूत से कहती है –'तुझे अब भी शव की आवश्यकता थी क्या ? तेरी शव-साधना तो पूरी हो चुकी थी। (इन्द्र के शव को छूती है) सुन ले, इन्द्र के इस शव को अपने कंधे पर उठाए, नगर सीमा पर खड़ी मैं उसकी प्रतीक्षा करूंगी।' नाटक के अन्त में श्वेत अश्व के दौड़ने की ध्वनि आती है और तारा सब नगरवासियों को मोहमुक्त करती हुई कहती है कि उसपर कोई सवार हो तो अन्यथा कोई और आकर उसकी सूनी पीठ पर बैठ जाएगा और लम्बे काल के लिए हम फिर एक अन्ध परम्परा में जीने के लिए अभिशप्त हो जाएंगे।

नाटक में हेम्प अवधूत के विरुद्ध जनता को जागरूक करता है। वह उन्हें विश्वास दिलाता है कि 'तुम भी वही बोधिसत्व हो।' और कलकी के लिए जनता को स्वयं साधना करनी चाहिए। हेम्प उन्हें चैतन्य बनाकर चला जाता है क्योंकि यदि वह वहां रहता तो जनता सम्भवतः अवधूत का काम हेम्प से लेती। वह हेम्प को जनता के लिए साधना करने पर विवश कर देती परन्तु हेम्प की निरंकुशता और एकाधिकारिता से विरोध है। वह स्वयं अवधूत का स्थान नहीं लेना चाहता। हेम्प सच्चे जनतंत्र और स्वराज्य का समर्थक है। नाटककार नाटक के अन्त में

---

१. कलकी : पृ० ३१
२. वही, पृ० ४७
३. वही, पृ० ५१
४. वही, पृ० ५२

सूनी पीठ वाले अरब की टापों और नाग के संवादों से भी इसी तथ्य को रेखांकित करता है।

'कलंकी' में डा० लाल ने पौराणिक पात्रों में आधुनिक संवेदना तलाशने का प्रयास किया है। 'इसमें, दा, और कलंकी में प्रभावित नाटकों में जो बाह्य धार्मिकता प्रमाण बढ़ता रहा है, उनके विरोध इन नाटकों (सूर्यमुखी और कलंकी) के चरित्रों को उन्हीं के भीतर से उभारा गया है और सारा नाटक अपने-आप स्वाभाविक रीति से उदित होता चला गया है।"

विभिन्न पात्रों के चरित्रांकन के लिए नाटककार ने विविध मंत्र, नाद, स्वर, संगीत के साथ-साथ प्रमिलन, मंच पर विभिन्न दृश्यस्थलों की सहस्थिति, गीत, समानान्तर संवाद, विभिन्न दृश्य-खण्डों में अलग-अलग होने वाले समानान्तर संवादों का पारस्परिक सहगुम्फन आदि का बहुविधि प्रयोग किया है। 'प्रकाश' एवं व्यंजक मंच-निर्देशों का भी सार्थक प्रयोग किया गया है। स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है कि 'इस नाटक में तंत्र-साधना और विश्वास के अनेक शब्द, ध्वनि अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर प्रकट हुई है। मूलतः इसका प्रयोजन, अवधूत और तांत्रिक के चरित्र को सामान्य आधार देने में रहा है। पर सर्वत्र रंगरूप और तारा ने, उसे सर्वथा नये अर्थ में ग्रहण कर अपने चरित्र के अनुसार यथार्थ के रूप में देखा और उसे नये परिदृश्य में लिया है। तंत्र शब्दावली का प्रयोग अवधूत-तांत्रिक, यथार्थ से पलायन कराने के लिए ही करते हैं, प्रसंग को अप्रासंगिक, प्रत्यक्ष को रहस्यमय बनाने के लिए।" 'ध्वनियों' का प्रयोग यदि पात्रों के चरित्र को तीव्रता और गहनता से उद्घाटित करने के लिए हुआ है तो 'प्रकाश' नाटक के बदलने, भागते चित्त को प्रकट करने के लिए। 'रंगों' का प्रतीकात्मक प्रयोग भी इसमें किया गया है। नाटक में लाल, काला और इसके आसपास के कुछ गहरे-घने और बोझिल रंगों का प्रयोग अधिकता से किया गया है। थके पराजित जैसे आदिवासी लोग जो धर्म के कर्मकाण्ड से भयभीत और त्रस्त हों—ऐसे रंगों में ही अभिव्यक्ति पा सकते थे। 'अतिरिक्त त्वरा' और 'हठात् मौन' का भी चरित्रांकन के लिए सफल उपयोग नाटककार ने किया है।

नाटककार ने कलंकी की चरित्र-सृष्टि में 'तब' (मध्यकालीन) और 'अब' (आधुनिक) के मानव का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। मानव-मन के धर्ममय, मृत्युमय, पापमय और जीवनमय—वह भूमि जहा भूत-प्रेत जन्म पाते हैं, निरंकुश शासक पैदा होते हैं और कलंकी की अनिवार्य कामना उत्पन्न होती है—क्या आज भी हममे वर्तमान नही है? क्या प्रत्येक युग के लोग अपने-अपने ढग से किसी न किसी कलंकी की प्रतीक्षा नहीं करते रहे और क्या हम वास्तव में इस स्थिति के अपवाद हैं? मध्ययुग में जो तंत्र-साधना के नाम पर शवसाधना थी, वही आज प्रजातंत्र के नाम पर क्या

---

१. ज्ञानोदय : अक्टूबर, १९६९ : पृ० १४७.

२. कलंकी : (कलकी रंगमंच एक प्रसंग) : पृ० १०.

शुतुरमुर्ग

—ज्ञानदेव अग्निहोत्री

ज्ञानदेव अग्निहोत्री के प्रकाशित नाटकों में मुख्य हैं– वतन का मावहू, माटी जागी रे, नेफा की एक शाम, तथा शुतुरमुर्ग। शुतुरमुर्ग को छोड़कर शेष सभी नाटक परम्परागत शिल्प में रूढ़-एकआयामी पात्रों को लेकर रचे गये स्थूल कथा-प्रधान नाटक हैं। शुतुरमुर्ग एक व्यंग्य-प्रधान प्रयोगवादी नाटक है। इस नाटक में लेखक ने सामयिक राजनीतिक गतिविधियों पर व्यंग्य करने की चेष्टा की है। बड़ी-बड़ी निर्माण-योजनाएं, झूठी उम्मीदें, भ्रष्टाचार, समस्याओं की समीक्षा-समितियाँ और उनका खोखलापन, झूठी शक्ति के लिए जन-साधारण की भावनाओं से खिलवाड़ आदि का प्रदर्शन—नाटक का कथ्य है। संक्षेप में, नाटक का संसार सत्ताधारी राजनीतिज्ञों के खोखलेपन का ससार है। 'नाटककार ने इस पाखंड का पर्दाफाश करने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया है, पर यह पैना होने की बजाय सतही और स्थूल हो गया है।'[1]

चरित्र परिकल्पना की दृष्टि से शुतुरमुर्ग का प्रत्येक पक्ष अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। राजा (सूत्रधार), रानी, रक्षामंत्री, भाषण मंत्री, महामंत्री, विरोधीलाल (सुबोधीलाल), मामूलीराम, दासी, और मरता हुआ आदमी - इन नौ पात्रों से इस नाटक को लेखक ने बुना है। इनके नामकरण से ही स्पष्ट है कि नाटककार इन सबके केवल एक-एक रूप को ही प्रदर्शित करना चाहता है परन्तु व्यंग्य वहां उभरता है जब उनका यह स्पष्ट दिखाई देने वाला रूप भी एक मुखौटा सिद्ध हो जाता है। उनके चरित्र की एकायामिता में से ही एक दूसरा आयाम भी झलक उठता है। नाटककार ने 'शुतुरमुर्ग के प्रतीक को (राजा, रानी, मंत्री आदि को विशिष्ट नाम देकर) राजनीति के प्रत्येक महानायक पर अत्यन्त सहजता और सूझबूझ से आरोपित कर दिया है। नाटक का प्रत्येक पात्र अपनी-अपनी भूमिका में जीवन की विशिष्ट

---

१. दिनमान : २६ जनवरी, १९६९, पृ० ४७

विसंगति को इस सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है कि सम्पूर्ण नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन के दिवालिएपन की चिन्त्य स्थिति को व्यंग्य के समर्थ और तीक्ष्ण माध्यम से समग्रता के साथ प्रस्तुत कर देता है।

शुतुरमुर्ग का मुख्य-पात्र—राजा—काला दुशाला ओढ़े हुए सूत्रधार के रूप में दर्शकों के समक्ष आता है और उनका आह्वान करता है कि वह भी उसके साथ-साथ उसके अनुभवों से होकर यात्रा करें। फिर वह दुशाला उतार कर राजसी परिधान में शुतुरनगरी का राजा बन जाता है और रेशम के कीड़े की तरह अपने इर्द-गिर्द, अपने बचाव के लिए ऐसा जाल बुनता है, जिसमें अन्तत वह स्वय फंस जाता है। शुतुरनगरी के राजा के रूप में वह कई वर्ष से शुतुरमुर्ग की प्रतिमा की स्थापना कर उसके ऊपर स्वर्ण-छत्र लगवा रहा है। इस स्वर्ण-छत्र की योजना के सामने देश की कोई दूसरी समस्या उसे नहीं छूती—अकाल, भुखमरी, आक्रमण, सब पर जैसे वह शब्दों से विजय प्राप्त कर लेना चाहता है। उसमें विद्रोह को तोड़ने और संघर्ष को खत्म करने का छलपूर्ण चातुर्य है। राजा की केवल एक नीति है कि उसकी कोई नीति नहीं। 'तुक भरी बेतुकी बातें, आदर्शहीन आदर्श और तर्कहीन तर्क'[1] राजा के चरित्र की विशेषताएं हैं। उसमें राजनीतिक हथकंडे और चातुरी कूट-कूटकर भरी है। वह विरोधीलाल को क्षुद्र सिद्ध करने के लिए उससे विलम्ब से मिलता है, महामंत्री को 'चुप' कराने के लिए एक सहस्र स्वर्णमुद्रायें स्वीकृत करता है, विरोधीलाल को विकासमंत्री का पद देकर सुबोधीलाल बना देता है, जनता की समस्याओं को 'सत्यमेव जयते' जैसे नारे और उनकी मांगों को काल्पनिक युद्ध और संकट की घोषणाओं में डुबो देता है। उसमें धैर्य भी बहुत है। वह विरोधीलाल की क्रुद्ध वाणी से जरा भी उत्तेजित नहीं होता। उसे भविष्य की नहीं केवल वर्तमान की चिन्ता है। वह देश का सारा धन और प्रतिमा शुतुरमुर्ग बनवाने में लगा देता है और समय आने पर उसे तुड़वाने के लिए (यह जानते हुए भी कि उसका निर्माण नहीं हुआ था) अपना समस्त सुरक्षित राजकोष भी मंत्रियों को सौंप देता है। अपने आपको बनाए रखने के लिए वह अन्त तक शुतुरमुर्ग का अभिनय करता है और मामूलीराम से सबकी मांगें पूरी करने की बात कहता है, भीड़ की शरण में जाना चाहता है। मंत्री मामूलीराम को सिंहासन से बांध देते हैं और स्वयं अपने भयंकर वास्तविक रूप वाले मुखौटे पहनकर राजा को निर्वासित करते हैं। यह धक्के खाकर आर्तनाद करता हुआ सबको अपना वंशज घोषित करता है और पुन सूत्रधार की प्रारंभिक भूमिका में उतरकर दर्शकों को बताता है कि—'यह तो हमें सदैव मालूम रहा कि शुतुरमुर्ग कभी नहीं बना और कभी नहीं टूटा। सोने का शुतुरमुर्ग तो हम इसलिए बनवा रहे थे क्योंकि सचेतन शुतुरमुर्ग हम स्वय थे। शुतुरमुर्ग की स्थापना न तो हमारा दर्शन था

---

1. शुतुरमुर्ग : १२

न स्वभाव और न धर्म। यह तो शक्ति और सत्ता सुरक्षित रखने की एक नीति थी। किसी न किसी बहाने हम उन्हें अधिक से अधिक स्वर्ण-मुद्राओं का दान देते रहे ताकि वे अपने भोग-विलास में अधिक से अधिक व्यस्त रहें और हमारा सिंहासन सुरक्षित रहे।"[1]

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि शुतुरमुर्ग का राजा 'शुतुरव्यवहार' से पीड़ित नहीं है और न ही स्वयं शुतुरमुर्ग है, परन्तु मानव-स्वभाव में दूर तक धंसी शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति का उसे पूर्ण ज्ञान है। इसी ज्ञान को वह अपने स्वार्थों के लिए मोड़ लेता है। इसीलिए वह अपने आपको 'नवेगन शुतुरमुर्ग' कहता है और अपनी शक्ति एवं सत्ता की सुरक्षा के लिए सोने की 'शुतुर प्रतिमा के' निर्माण तथा उसपर स्वर्ण छत्र की स्थापना के महान नाटक में जुट जाता है। राजा की अन्तिम परिणति के सन्दर्भ में नाटककार की धारणा है—मेरे नाटक का 'राजा' नागद नहीं, कमजोर और कुटिल है।"[2]

इस रोमांस-रहित नाटक में रानी की भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त है। आरम्भ में यह भीड़ द्वारा पत्थर से तोड़ा गया अपना दर्पण लेकर आती है और राजा से त्रुटिपूर्ण सुरक्षा-व्यवस्था के लिए रक्षा मंत्री को दण्डित करने की बात कहती है। परन्तु राजा को उस टूटे दर्पण में शुतुरमुर्ग की आकृति बन गई दीख पड़ती है इसलिए राजा दूसरों द्वारा धोखे से निर्मित इस अपूर्व कलाकृति का सृजनकर्ता रानी को ठहरा कर उसे राज्य की कलामंत्री बना देते हैं। वह रक्षामंत्री को 'सुरक्षा व्यवस्था में ढील रखने के लिए कोटिशः धन्यवाद देकर चली जाती है। कलामंत्री के रूप में वह एक मंगल-गान की रचना भी करती है। फिर भुखमरी की जांच समिति की अध्यक्षा के रूप में वह आती है और मंत्रियों से भूख से मरता हुआ एक आदमी ला देने की प्रार्थना करती है जिससे वह समस्या का सुन्दर, कलात्मक और सही विवरण प्रस्तुत कर सके। मरते हुए आदमी के विषय में रानी के दासी से वार्तालाप में रानी का आश्चर्य-बोध व्यंग्य अथवा हास्य नहीं उभरता, स्वयं रानी का चरित्र हास्यास्पद और अविश्वसनीय हो जाता है। भूख से मरते हुए आदमी का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक और करुण था; उसमें पैने व्यंग्य की असंख्य सम्भावनाएं निहित थीं, परन्तु रानी के बालोचित व्यवहार और उसके चरित्र ने उसे एकदम हास्यास्पद बना दिया है। "मरने के बाद रोना शिष्टाचार है" कहते हुए रानी का अपने आंसू पोंछना तथा राजा के इस कथन में तीखा व्यंग्य है—इतना सुन्दर जांच-पत्र—यह रंग-बिरंगी शुतुरलेखनी, स्वर्ण अक्षरों की यह स्याही। महारानी, हमें प्रसन्नता है कि आपने

---

१ शुतुरमुर्ग, पृ० ७२-७३
२ शुतुरमुर्ग (शुतुरमुर्ग की मंच-प्रतिक्रियाएं) : पृ० ६
३ शुतुरमुर्ग . पृ० ५७

जिसने इसका [illegible] बना लिया है।' भूख के इस कथात्मक विवरण को प्रस्तुत करके भोज की समाप्ति पर प्रतीक्षा करते अतिथियों को स्वर्ण-पत्र बांटने चली जाती है और नाटक के अन्त में राजा को आकर सूचना देती है कि राजा और उसके अतिरिक्त इस राजमहल में कोई भी व्यक्ति नहीं है, सब लोग उन्हें छोड़कर चले गए हैं।

नाटक में रानी की अपेक्षा दासी का चरित्र अधिक मार्मिक, विश्वसनीय और और जीवन्त है। राजमहल में अकाल से पीड़ित अपने घर वालों से जुड़ी हुई दासी की भूमिका संक्षिप्त होकर भी हृदयस्पर्शी-मानवीय-स्थिति का उद्घाटन में समर्थ है। उसके द्वारा किया गया भूख और अकाल का वर्णन निस्सन्देह अत्यन्त करुण और सजीव है।

मंत्रियों में से विकास मंत्री को' पौरव तत्त्वों की अधिकता के कारण अपच हो गया है।[2] इसलिए वह तो मंच पर उपस्थित ही नहीं होते परन्तु मंच पर बार-बार उपस्थित होने वाले मंत्रियों में से भी केवल 'महामंत्री' का चारित्र्य और निजत्व ही उभर पाता है। भ्रष्टाचारी रक्षामंत्री और भाषण मंत्री राजा की हां में हां मिलाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं तो महामंत्री सत्य बोलकर राजा को आतंकित करता है और उससे अधिक से अधिक स्वर्ण-मुद्राएं ऐंठता है। 'परम सत्यवादी महामंत्री' स्पष्ट वक्ता बनकर सब पर हावी हो जाता है। वह सूक्तियों में नपी-तुली स्पष्ट बात कहता है और स्थितियों तथा व्यक्तियों के विषय में सटीक वक्तव्य देता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गुगुरनगरी में यही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो सत्य एवं न्यायप्रिय होने के साथ-साथ निर्भय स्पष्ट वक्ता भी है और सजग तथा संवेदनशील होकर जी रहा है। परन्तु अन्त में इसका मुखौटा भी उतर जाता है जब वह कहता है कि 'सत्य बोलना मेरे जीवन का धर्म नहीं मेरी कूटनीति का अंग है'[3] और राजा को निर्वासित करके स्वयं सिंहासन पर बैठ जाता है। इस पात्र की नाटकीयता को लेखक ने भली प्रकार देखा और प्रस्तुत किया है।

विरोधीलाल मंच पर अधिक समय तक नहीं रहता परन्तु उसके चरित्र में एक शक्ति है, अत: यह अपनी पहली भंगिमा से ही मंच पर छा जाता है। वह आते ही राजा के कार्यों की स्पष्ट निन्दा करता है और उसे 'धारावाहिक गालियां' देता है। राजा अत्यन्त शान्ति और संयम से उसे तौलता है और अन्तत: अपनी चातुरी से उसे विरासमंत्री का पद सौंपकर सुबोधीलाल बना देता है। इस प्रकार विरोधीलाल भी व्यवस्था के यंत्र का पुर्जा बन जाता है और मामूलीराम को झूठी उम्मीदें देकर और 'सत्यमेव जयते' का नारा सिखा कर वापिस भेज देता है। मंत्री पद की

---

१ गुगुरमुर्ग : पृ० ५६

२ वही, पृ० १५.

३ वही, पृ० ७१.

शपथ-ग्रहण के बाद विरोधीलाल द्वारा मामूलीराम से कही गई इन बातों के ढंग में अच्छा व्यंग्य है—(अचानक कराहते हुए) मामूलीराम, मेरा जीवन तो कांटों की सेज है। तुम सब आराम से रह सको इसलिए मुझे कष्ट पाना ही होगा।"[1] यह भी अन्य मन्त्रियों की तरह स्वर्ण-छत्र की स्थापना के लिए राजा से दो सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं ले लेता है और बाद में महामंत्री के साथ मिलकर शुतुरमुर्ग को तोड़ने की योजना में सम्मिलित हो जाता है। वह अब किसी बात का विरोध नहीं करता क्योंकि महामंत्री के शब्दों में 'विरोध करना सुबोधीलाल का स्वभाव नहीं रक्षामंत्री—उसकी आवश्यकता है। यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो वह निश्चित ही हमारा साथ देगा।'[2] और यही उसके चरित्र का मूल भाव है। विरोधीलाल नाटक में अत्यन्त तनावपूर्ण स्थिति में विरोध की राजनीति का उभय पक्ष प्रस्तुत करता है परन्तु 'विरोधी पक्ष के नेता विरोधीलाल का राजा का विकासमंत्री बन जाना, नाम बदलकर सुबोधीलाल रख लेना आदि बातें जरा भी नाटकीय नहीं बन पाती।'[3]

मामूलीराम भीड़ का अंग नहीं स्वयं भीड़ है जिसने अपनी आस्था और विश्वास विरोधीलाल को दिए थे। परन्तु राजा उसका मोह भंग करता है और विरोधीलाल द्वारा उसके प्रति किए गए विश्वासघात का पर्दाफाश कर भीड़ को अपनी ओर मिलाना चाहता है। राजा मामूलीराम को जागृत करता है क्योंकि उसे विश्वास है कि 'वह कुछ क्षणों के लिए कटु भले ही हो जाए पर इस कटुता से उसमें क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, ऐसा हम नहीं मानते।'[4] भाषण मंत्री और रक्षा मंत्री मामूलीराम को पीटते हैं और विरोधीलाल से नहीं मिलने देते ऐसी दशा में राजा उससे सहानुभूतिपूर्वक मिलता है और उसकी माँगें तत्काल पूरी करने का वादा करता है। यह उसे भीड़ को शान्त रखने के लिए कहता है। लेकिन जब वह अपनी और भीड़ दोनों की मांगें एक साथ पूरी करने को कहता है तथा भीड़ शोर मचाती है तो राजा देश पर संकट की घोषणा करा कर उनकी आवाज को दबा देता है। मामूलीराम देश पर मर-मिटने का संकल्प करके चला जाता है। मामूलीराम जाग्रत होता है और दृढ़ विश्वास लेकर पुनः राजा के पास आता है। वह राजा को बताता है कि शुतुरमुर्ग कभी बना ही नहीं और असली शुतुरमुर्ग राजा स्वयं है। वह राजा को भीड़ के सामने ले जाना चाहता है 'सामूहिक क्षमा के लिए नहीं सामूहिक दण्ड के लिए।'[5] परन्तु

---

१. शुतुरमुर्ग : पृ० ३२
२. वही, पृ० ५०-५१
३. दिनमान : २८ अप्रैल, १९६८ : पृ० ४२
४. शुतुरमुर्ग : पृ ३०
५. वही, पृ० ६८

तभी नागपाश लिए मंत्री आ जाते है और मामूलीराम के बुद्धिमान हो जाने तथा राजा के समक्ष सबसे बड़े सत्य का उद्घाटन करने के उपलक्ष में उसे बलात् शुतुर्गसिंहासन में बांध देते है। नाटककार के अनुसार ऐसी शुतुरव्यवस्था में जाग्रत जनता की यही नियति हो सकती है।

'मरता हुआ आदमी' कुछ क्षणों के लिए मंच पर आता है, । एक भी शब्द नहीं बोलता फिर भी वह एक प्रतीक-सा बन जाता है और अपनी मौन-मृत्यु में एक तीखा व्यंग्य उभार देता है।

कुल मिलाकर शुतुरमुर्ग एक कमजोर व्यंग्य-रचना[१] है जिसमें 'नाटक के बिखराव में व्यंग्य भी बिखर गया है।'[२] 'नाटक संवादों पर 'टिकाया' गया है, इसलिए अभिनय से उत्पन्न होने वाले नाटक की भी कोई गुंजाइश नहीं बचती।'[३] जो कुछ है वह एक सीधा, सपाट और बहुत जाना हुआ चित्र भर है। प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन के अनुसार नाटक का मूल विचार मनोरंजक और प्रभावशाली है परन्तु " the situation and characters built around it are too obvious and over-emphasized"[४] इनमें कोई अन्तर्दृष्टि अथवा गहराई नहीं है—विशेषकर मानवीय स्तर पर। जहां तक गहराई का सवाल है प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखक श्री लाल शुक्ल के विचार से 'व्यंग्य को साहित्य की गहराई में जाने वाली उत्कृष्ट कोटि की विधा नहीं माना जा सकता।'[५] अतः इसे हम विधा की सीमा भी मान सकते है।

नाटक की संरचना 'रियलिस्टिक' की अपेक्षा 'स्टाइलाइज्ड' शैली के अधिक निकट है, परन्तु नाटककार ने पात्रगत शरीर-रचना, अंग-परिचालन, सम्भाषण-शैली आदि का कोई निर्देश न देकर पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व निर्देशक को सौंप दिया है। यही कारण है कि श्यामानन्द, जालान, सत्यदेव दुबे और मोहन महर्षि जैसे निर्देशकों ने अपने-अपने ढंग से इसकी चरित्र-परिकल्पना की और नाटक तथा पात्रों की अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत की। शुतुरमुर्ग का मूल नाट्यालेख एक रेखाचित्र मात्र रह गया।

प्रेक्षक-पाठक की प्रतिक्रिया की दृष्टि से wit finds its psychomotor expression in laughter, humour, in smile"[६] परन्तु शुतुरमुर्ग का

१. दिनमान - २६ जनवरी, १९६९ : पृ० ४६
२. धर्मयुग : २३ फरवरी, १९६९ : पृ० २१
३. दिनमान : २८ अप्रैल, १९६९ पृ० ४३
४. Enact : January-Feb. 1969 (Some Recent Significant Plays)
५. पकादमी पुरस्कार गोष्ठी में भाषण से—देखिए दिनमान ५ अप्रैल, १९७० पृ० ३६
६. Beyond Laughter : Martin Grotjahn : p. 33

देख-पढ़ कर (केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर) उकताहट और ऊब का भाव उत्पन्न होता है। व्यंग्य शब्दों और स्थितियों दोनों पर आधारित होता है। अग्निहोत्री ने अपने व्यंग्य को 'लाउड' बना दिया है और नाटक में कही गई बात मंच की भाषा में तीव्रता से नहीं कही जा सकी है।

चरित्रांकन की दृष्टि से शुतुरमुर्ग की यही उपलब्धि है कि इसके पात्र बिना मुखौटा पहने हुए भी एक मुखौटा लगाए रखने का भाव उत्पन्न करते हैं। उनके वास्तविक चेहरे मुखौटे हैं और नाटक के अन्त में लगाए गए मुखौटे वास्तविक चेहरे। मानव चेतना में दूर तक पैठी हुई शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति और केवल स्वार्थ के माध्यम से परस्पर जुड़ने वाले व्यक्तियों के मनोविज्ञान का सुन्दर विश्लेषण नाटक में प्रस्तुत किया गया है।

हत्या एक आकार की

—ललित सहगल

हत्या एक आकार की ललित सहगल के अब तक प्रकाशित नाटको में एकमात्र मौलिक और उल्लेखनीय नाटक है। इस नाटक में लेखक ने गाधी जी की हत्या का षड्यन्त्र करने वाले हत्यारों के माध्यम से एक अपराधी के मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। चार व्यक्ति मिलकर गाधी जी की हत्या करने की योजना बनाते हैं और तैयारी के लिए एक भूमिगत कक्ष में मिलते हैं। इनमें से चौथा व्यक्ति (शंकित युवक) अपने निर्णय से पूर्णतया सतुष्ट नही है अत अपने साथियों से उसपर पुन सोच लेने को कहता है। वह उसे सतुष्ट करने के लिए वही एक झूठी अदालत का नाटक करते हैं। जिसमे पहला व्यक्ति सरकारी वकील, दूसरा व्यक्ति सरकारी गवाह, तीसरा अर्थात् अधेड़ व्यक्ति जज और यानी शंकित युवक अभियुक्त एव वकील सफाई की भूमिकाए निभाते हैं। वे नाटक के दौरान शंकित युवक को अपने निर्णय के प्रति विश्वस्त करने के स्थान पर स्वय अपने पक्ष का खोखलापन उद्घाटित करने लगते हैं। वास्तविक नाट्य-विडम्बना तो उस समय उभरती है जब मुकदमा हार जाने पर भी वे लोग पूर्व-निर्णय के अनुसार फैसला सुना देते हैं और शंकित युवक को असहाय और उपेक्षित छोडकर हत्या की योजना को पूरा करते हैं। तब शंकित युवक कहता है—'तुम्हारा खयाल है, दोस्त, तुमने उसे मार दिया है ?—नही, दोस्त, नही। तुमने एक आकार की हत्या की है—हाड-मास से भरे एक आकार की।'[1]

आधुनिक नाटककार बाहरी घटनाओं के जंजाल से अपने को एकदम मुक्त करके आत्मा तथा मन की प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना अपना कर्त्तव्य मानता है। रूसी नाटककार एवरेनाव बहुव्यक्तित्व पर बहुत जोर देता है। उसके अनुसार मनुष्य का अहं कई स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। 'मैं' अकेला नही, वरन् कई 'मैं'-का समन्वित रूप है। व्यवहारतः हम कह सकते हैं कि उसके तीन प्रधान रूप हैं — पहला इच्छा या भावना, दूसरा ज्ञान या तर्क और तीसरा कर्म। दाका का स्थान इन

१. हत्या एक आकार की : पृ० ६५

तीनों में से हो सकता है। हत्या एक आकार की की चरित्र-योजना कुछ इसी प्रकार की है नाटक के चारों पात्र अपना-अपना चेहरा रखते हुए भी अधूरे हैं; वे चारों मिलकर एक सम्पूर्ण चेहरे या व्यक्तित्व निर्माण करते हैं। अलग-अलग वे चारों पात्र केवल वर्ग या प्रतीक-पात्र ही हैं परन्तु सम्मिलित होकर वे एक जीवन्त चरित्र की सृष्टि करते हैं।

'पहला व्यक्ति' अंध निर्णय और कर्म का प्रतीक है। इसकी आयु सैंतीस-अड़तीस वर्ष है तथा शारीरिक-संरचना की दृष्टि से गठीले बदन का आदमी है। इसके चरित्र का मूल भाव है—मैं कर्म में विश्वास करता हूं।'[1] यह मूल भाव 'दृढ निश्चय के साथ' तथा 'बिल्कुल' वाली भगिमा में सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ है। वह हत्या के निर्णय में इतना अधिक अभिभूत है कि स्वयं अपने प्राणों की आहुति देने को तैयार है। वह जानता है कि इस कार्य के बाद 'मेरे बारे में लोगों के विचार बदल जाएंगे। व्यक्तिगत रूप से मेरा सब कुछ.. मेरा मान-सम्मान सब नष्ट हो जाएगा। अखबारों में मेरी निंदा होगी। लोग मुझे घृणा की दृष्टि से देखेंगे ···मेरे मुंह पर थूकेंगे। फिर भी मैं अपने निश्चय पर अटल हूं"[2] क्योंकि पहले व्यक्ति को इस बात का विश्वास है कि 'वह (गाधी) दोषी है।' और इसमें पछतावे की कोई गुंजाइश नही है।' वह देश-हित के लिए ही 'उसकी' हत्या करना चाहता है।

मुकदमे के नाटक में पहला व्यक्ति सरकारी वकील की भूमिका निभाता है। वह अपने पहले और आखिरी गवाह के रूप में इतिहासकार को पेश करता है। परन्तु जब वकील सफाई के रूप में शंकित युवक के तर्कों से पार नहीं पाता और दर्शकों को उसके पक्ष में तालियां बजाते देखता है तो उत्तेजित होकर सरकारी वकील की भूमिका से निकल कर दूसरे व्यक्ति को इस नाटक-रचने के लिए बुरा भला कहता है और अभियुक्त पर हमला करने के लिए नयी जमीन तलाश करता है। अभियुक्त के सत्य, अहिंसा, साम्प्रदायिक-एकता आदि के आदर्शों को ही उसके अभियोग मान कर उस पर आक्रमण किया जाता है। परन्तु शंकित-युवक के शांत और प्रमाणपूर्ण उत्तरों से वह हार जाता है और पुन: सरकारी वकील की भूमिका से निकल कर 'मुस्लिम' से अकेले में 'बात' करता है। वह अपने मित्र (शंकित युवक) को समझाता है कि उसे इस 'खेल' और 'मजाक' को इस गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए। वह उसे कहता है कि 'मैं इस नाटक से बुरी तरह ऊब गया हूं।' परन्तु शंकित युवक के यह कहने पर कि वह अपनी पूरी शक्ति से विरोध करेगा। पहला व्यक्ति क्रोधित हो कर कह उठता है, 'तुम नन्ही-सी जान हो। मेरा बिगाड़ ही क्या सकते हो?"[1] तथा

1. हत्या एक आकार की . पृ० ११.
2. वही, पृ० १३-१४
1. हत्या एक आकार की · पृ० ५८
2. वही, पृ० ५६

'अब मैं तुम्हारे सहारे के बिना ही जीना सीखूंगा।'[1] यह लड़खड़ाता हुआ एकतरफा मुकद्दमा फिर चलता है और अभियुक्त पर साम्प्रदायिक एकता और असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलनों के नारों से होने वाले दुष्परिणामों का आरोप लगाया जाता है। उस पर अपनी नीति द्वारा हिन्दू और मुसलमान दोनों को असंतुष्ट करने का अभियोग लगाया जाता है, परन्तु परिणाम कुछ नहीं निकलता और कमजोर बैसाखियों पर खड़ी इन झूठे अभियोगों की इमारत अपने-आप ही डगमगाने लगती है। पहला व्यक्ति लाचार होकर अनुभव करता है, 'ओह, हम कैसे तिलिस्म में फंस गये हैं।'[2] तीनों व्यक्ति मिलकर शंकित युवक को परास्त करने के लिए पुनः किसी कमजोर जगह की तलाश करते हैं और नये अभियोगों की सूची के साथ मुकद्दमा फिर चल निकलता है। परन्तु शंकित-युवक की स्पष्टवादिता और सच्चे तर्कों के समक्ष पहला व्यक्ति फिर 'सिर पकड़ कर कुर्सी पर बैठ जाता है' और विक्षिप्त की तरह कहता है, 'क्या कोई भी मुझे इससे छुटकारा नहीं दिला सकता?'[3] हार कर कोई अन्य रास्ता न देख वे उसकी आवाज को शोर में दफन कर देने का निश्चय करते हैं और शंकित युवक को उसी सीलन भरे अंधेरे तहखाने (जो अनायास ही 'अचेतन मन' का प्रतीक बन जाता है) में असहाय दशा में छोड़कर, ठीक समय पर जाकर पहला व्यक्ति महात्मा की हत्या कर देता है।

शंकित-युवक अपने आप में कोई स्वतन्त्र व्यक्ति न होकर पहले व्यक्ति के मन का ही संशय है जिस पर किसी प्रकार भी विजयी न हो सकने पर वह उसे दमित करके अपना कुकृत्य कर डालता है। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप हम विवेच्य नाटक से अनेक उदाहरण दे सकते हैं जैसे—

(क) देखते नहीं, बिना तुम्हारे मैं मरा जा रहा हूँ? (पृ० ५८)

(ख) तुमने कभी मुझे अपना नहीं समझा। तुम हमेशा दूसरों को अपना समझते रहे – और अब वह तुम्हारा अपना हो गया है। (पृ० ६०)

(ग) मुझे तुमसे बात नहीं करनी चाहिए थी। (हृदय पर हाथ रखकर) बड़ी तकलीफ हो रही है। (पृ० ६१)

(घ) अब मैं तुम्हारे सहारे के बिना ही जीना सीखूंगा। (पृ० ६१)

(ङ) क्या कोई भी मुझे इससे छुटकारा नहीं दिला सकता। (पृ० ८८)

(च) वही जिसने मुझे धोखा दिया है · जो मेरा दुश्मन हो गया है। जब तक यह मेरे सामने है, मैं कुछ नहीं कर सकता मैं कुछ नहीं कर पाऊंगा। (पृ० ८८)

---

१. हत्या एक आकार की : पृ० ८८
२. वही, पृ० ६१
३. वही, पृ० ७२

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी जब तक किसी व्यक्ति के मन में शंका, सन्देह या संशय बना रहेगा वह केवल अपने आप से जूझता रहेगा। यदि उसे कुछ कार्य करना है तो सर्वप्रथम इस 'शंका' पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। हत्या एक आकार की के भावी हत्यारे अपने आपको पुनः आश्वस्त करने के लिए तथा अपने भीतर के 'हैमलेट' को (जिसकी संकल्प-दुर्बलता उन्हें उत्तेजित करती है) संतुष्ट करने के लिए ही नकली-मुकदमे का नाटक करते हैं।

नाटक में दूसरा व्यक्ति हत्या की योजना बनाता है क्योंकि 'सोचना-विचारना' इसका काम है।'[1] इसकी आयु लगभग चौतीस-पैंतीस वर्ष है। यह मनुष्य के विचार तत्व का प्रतीक है। शंकित युवक को संतुष्ट करने के लिए वही नकली-अदालत का अद्भुत विचार सोच निकालता है। वह प्रत्येक बात सोच-समझकर और तौल-कर करता है दूसरा व्यक्ति मुकदमे में अदालत के कर्मचारी तथा सरकारी गवाह (इतिहासकार) की भूमिकाएं निभाता है। पहले व्यक्ति के बार बार पराजित होने पर यही व्यक्ति उसे सुझाव और सहायता देता है—कभी 'कागज पर जल्दी से कुछ लिखकर' और कभी कोई महत्वपूर्ण 'किताब' देकर। जब अन्त तक पहला व्यक्ति शंकित युवक को पराजित नहीं कर पाता तो दूसरा व्यक्ति ही उससे छुटकारा पाने का रास्ता सुझाते हुए कहता है, 'बस, इसकी आवाज को शोर में दफन कर दो।'[2] यह पात्र व्यक्ति के चिन्तन-पक्ष का प्रतीक है।

तीसरा-अधेड़ व्यक्ति प्रबन्धक है, इसमें षड्यन्त्र की सफलता के लिए सभी सुविधाएं जुटाई हैं। इसका शरीर स्थूल और रंग सांवला है; आंखें छोटी-छोटी और अजीब तरह की हैं जिन्हें देखकर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। मुकदमे में वह जज की भूमिका निभाता है और जब-तब यंत्रचालित मुसकान फेंकता है। प्रबन्धक के नाते वह ले-देकर काम निकालने में सिद्धहस्त है क्योंकि यही उसका धन्धा है। शंकित युवक का मुंह बंद करने के लिए 'कुछ दे-दिला' देने (रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद या ढेर सारी लड़कियां) की बात कहता है। जब इस प्रकार बात नहीं बनती तो वह उसे डराने-धमकाने की बात कहता है। कभी उसकी हत्या कर देने की और कभी समझौता करने की सलाह देता है। वह साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों में माहिर है। अन्त में जज के रूप में अधेड़ व्यक्ति पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ही निर्णय सुना देता है—मुजरिम, मुकदमा शुरू होने से पहले हमारा जो फैसला था, वही अब भी है। अदालत यह सजा सुनाती है कि तुम्हें सरेआम सरे-राह गोली मार दी जाए।'[3] पहला व्यक्ति दुराग्रह की खोखली आक्रामक शक्ति को प्रदर्शित करता है।

'शक्ति-युवक' इस नाटक का सर्वाधिक जटिल, सशक्त, जीवन्त और महत्वपूर्ण चरित्र है। चौबीस-पच्चीस वर्ष के उस युवक का रंग गेहुंआ है। वह दुबला-पतला

१. हत्या एक आकार की : पृ० ११
२. वही, पृ० ८८
३. वही, पृ० ६४.

और सबसे [illegible] है। केवल स्पष्ट है। वह सीधा-सादा, व्यवहार-कुशल [illegible] और मधुर [illegible] है। वह उसके साथी [illegible] को उनके निर्णय पर फिर से सोचने को विवश करता है। वह उनके सामने [illegible] उठाता है कि वे जो कुछ करने जा रहे हैं क्या वह ठीक है? अपने जीवन के अनुभव [illegible] सब भी [illegible] प्रतीत ठीक [illegible] कि बाद में कहीं पछतावा न हो। वह निडर और दृढ़ व्यक्तित्व का व्यक्ति है। वह अपने से नहीं डरता और पहले व्यक्ति के स्थान पर जाने को तैयार है, यदि उसे विश्वास हो जाए कि ऐसा करना ठीक है और यही अन्तिम उपाय है। साथियों द्वारा दुबारा सोचने से इंकार करने पर वह निर्भय, दृढ़ स्वर में कहता है—'तो फिर, दोस्तो, मुझे तुम्हें माफ करना होगा। मैं तुम्हारा साथ न दे सकूंगा।'[1] विवश होकर उन्हें एक मुकदमे का नाटक रचना पड़ता है जिसमें वे शंकित युवक को ही साथी के प्रतिनिधि-स्वरूप कटघरे में खड़ा कर देते हैं। प्रतिनिधि बनने से पूर्व वह कहता है—मुझमें इतनी सामर्थ्य कहां? मैं उसका प्रतिनिधि कैसे बन सकता हूं? मैं अनुभवहीन उसके बारे में कुछ खास जानता भी नहीं"[2] परन्तु जब इसका उत्तरदायित्व संभाल लेता है तो 'ईमानदारी से उसका प्रतिनिधि बनने की कोशिश' करता है और दोस्ती का, अपनेपन का कोई ख्याल नहीं करता। वह अभियुक्त एवं वकील सफाई दोनों की भूमिकाएं अत्यंत सफलता से निभाता है। वकील सफाई के रूप में यह कहता है—"जी, मैं और मुवक्किल जीवनभर साथ रहे हैं। इसलिए मैं इसके हर विचार से परिचित हूं।"[3] अभियुक्त की भूमिका निभाते हुए वह उसमें इतना अधिक तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पहला व्यक्ति कह उठता है, 'तू सचमुच अपने आपको 'वही' समझने लगा है।"[4] स्वयं शंकित युवक भी स्वीकार करता है कि कुछ समय पहले तक वह सिर्फ एक परछाईं था। फिर सहसा उसपर एक आत्मा के सम्मान का भार डाल दिया गया और तब सहसा उसका सम्मान मेरा अपना सम्मान बन गया।'[5] वह अपने तर्कों और व्यक्तित्व की प्रखरता के कारण सब पर बुरी तरह छा जाता है और वे लोग किसी भी मूल्य पर (चाहे रिश्वत देकर या हत्या करके ही) उसे चुप करा देना चाहते हैं। वे अनुभव करते हैं कि 'अनजाने ही हम निलिम्प में फंस गए हैं।'[6] और नाटक के अन्त में जब वे लोग उसे उपेक्षित और असहाय-सा छोड़ कर चले जाते हैं; वह मानो शाश्वत मानवीय अन्तरात्मा का

१ हत्या एक आकार की : पृ० १५
२. वही, पृ० २०
३. वही, पृ० ३५
४. वही, पृ० ४६
५. वही, पृ० ६०
६. वही, पृ० ७३

प्रतीक बन जाता है जिसे प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में इसी प्रकार अपमानित और उपेक्षित किया जाता रहा है। यह हत्यारों की मूर्खता पर हँसता है जो एक आकार की हत्या करके समझ रहे हैं कि उन्होंने 'उसे' मार दिया है।

हत्या एक आकार की के शंकित युवक का चरित्रांकन तीन स्तरों पर बहुत सफलता से किया गया है। यह शंकित युवक, वकील सफाई तथा अभियुक्त (महात्मा गांधी) तीनों भूमिकाएं अत्यन्त ईमानदारी और कुशलता से निभाता है। महात्मा के बचाव के लिए स्वयं को वकील के रूप में प्रस्तुत करते समय वह अपना तादात्म्य महात्मा से कर लेता है और इस प्रकार उसके माध्यम से स्वयं को पहचानता है। वह इतिहास के जघन्य कृत्यों के समक्ष अवरोध (जो सदैव दूर किए जाते हैं, किन्तु फिर भी जो हमेशा विद्यमान रहे रहते हैं) के रूप में आड़े आने वाली मानवीय अन्तरात्मा का भी प्रतिनिधित्व करता है।

यह नाटक का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इतनी उत्तेजक और चुनौती भरी विषय-वस्तु लेकर चलने वाला यह नाटक दर्शक-पाठक को गहरी नाटकीय अनुभूति नहीं दे पाता और न ही ठण्डे राजनैतिक तर्कों से ऊपर उठ पाता है। हत्यारों के माध्यम से वह 'महात्मा' का नाटक है परन्तु अन्त तक हत्या एक आकार की एक गतिशील मानवीय दस्तावेज बनने में असमर्थ रहता है, जैसा कि इसे बनना चाहिए था। प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में—

"... it lacks human warmth, the characters are thin and one-dimensional, and the basic juxtaposition lacks the necessary depth & complexity. The structure also is over-simplified, wanting in variety of rhythm and tone."[१]

चरित्र-सृष्टि के स्तर से हम देखते है कि हत्या एक आकार की के पात्रों को यद्यपि नाटककार ने दोहरी और तिहरी भूमिकाएं दी है (जो अभिनेता के लिए चुनौती प्रस्तुत करती है) फिर भी प्राय सभी पात्र एकायामी प्रतीक-पात्र ही बने रहते हैं। वह व्यक्तित्व-सम्पन्न ठोस और जीवन्त चरित्र नहीं बन पाते। परन्तु जैसा कि हमने आरम्भ में सकेत किया है यह चारों पात्र मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्पन्न चरित्र का निर्माण करते है। इस प्रकार हम देखते है कि विवेच्य नाटक की चरित्र-योजना कला के धनवादी स्कूल की अति सशक्त कला-शैली 'निर्माणवाद' के अन्तर्गत भावों तथा पेव्सनर के प्रयोगों से मेल खाती है जिसमें द्विबिम्ब तथा त्रिबिम्ब चेहरे बनाए जाते हैं।

---

१. Enact : January—February, 1969 (Some Recent Significant Plays)

पहला राजा

—जगदीशचन्द्र माथुर

जगदीशचन्द्र माथुर हिन्दी के वरिष्ठ नाटककार हैं। कोणार्क और शारदीया बहुत समय बाद १९६९ में उनका नया नाटक पहला राजा प्रकाशित हुआ है। ाधुनिक अन्योक्ति नाटक के रूप में लिखित इस कृति में महाराज पृथु के पौराणिक ाख्यान के माध्यम से नाटककार ने आज की राष्ट्रीय समस्याओं को, अपने भोग र सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक यथार्थ को चित्रित करने का प्रयास किया है। खक के अनुसार इस नाटक में 'मुख्य पात्र और प्रसंग मैंने वैदिक और पौराणिक ाहित्य से लिए हैं। लेकिन इसलिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता। ष्ठभूमि के कुछ अंश और कुछ सूत्र मोहनजोदड़ो-हड़प्पा सभ्यता की खुदाइयों में म्बद्ध हैं। पर इसीसे यह नाटक ऐतिहासिक नहीं हो जाता। कुछ संवाद वर्तमान ाविकाल की भाषा में हैं; गीतों पर लोक शैली की छाप है। पर केवल इसीलिए नाटक ो यथार्थवादी रचना नहीं ठहराया जा सकता।"[1] अतः स्पष्ट है कि इसमें कथा ौर पात्र पौराणिक हैं परन्तु प्रतीक-सन्दर्भ और संवेदना आधुनिक है। लहरों के राज- ंस, सूर्यमुख, कलकी आदि के समान ही पहला राजा में भी प्राचीन पात्रों, प्रसंगों ौर परिस्थितियों के माध्यम से रंगमंच पर समसामयिक जीवन और समस्याओं का द्घाटन किया गया है। नाटककार ने कुछ मूलभूत प्रश्नों को ऐसी परिस्थिति मसे वर्ष में उपलब्धि की जगह उपचार की तलाश की जाती है [illegible] ाति के साधनों का आपसी रिश्ता समाज के विकास में [illegible], ुरुष और राजसत्ता के बीच सम्बन्धों की बुनियाद, [illegible] और काम की लालसा का सहज सहअस्तित्व [illegible] संगों में मिले प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने का [illegible] है।

तीन अंकों के इस नाटक में तेरह प्रमुख और [illegible] (([illegible]) गौण पात्र हैं। प्रमुख पात्रों में से भी [illegible] पृथु, अत्रि, गर्ग केन्द्रीय पात्र हैं और सुनीथा, [illegible] भूमिकाओं में हैं।

1. पहला राजा—भूमिका

आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व ब्रह्मावर्त के चौथे (अथवा पांचवें) शासक का नाम था अंग और उसकी पत्नी थी—सुनीथा। उनके पुत्र का नाम वेन। वेन बचपन से ही उद्दण्ड और दुर्विनीत था। उसके व्यवहार से तंग आकर अंग एक रात सब कुछ छोड़कर चुपचाप वन को चल दिए। ब्रह्मावर्त में डाकुओं के भय से अत्रि, गर्ग, शुक्राचार्य इत्यादि मुनियों ने सुनीथा के परामर्श से वेन को शासक के रूप मे स्वीकार किया। वेन बड़ा अत्याचारी और निरंकुश शासक था। उसने यज्ञ-हवनादि बन्द करा दिए और स्वयं को ईश्वर घोषित करने लगा। उसने ब्राह्मण इत्यादि ऊंची जाति के मुनियों की सलाह को ठुकराया और वर्णसंकरता को बढ़ावा दिया। तब मुनियों ने मिलकर अपने मंत्रो, हुंकारो और मंत्रभूत कुशा के प्रहारों से वेन को मार दिया। वेन की माता सुनीथा ने उसके शव को मंत्रों और किसी विशिष्ट प्रकार के लेपन से सुरक्षित रखा। नाटक यहीं से आरंभ होता है। मंच पर वेन का ढका हुआ शव रखा है और अमावस्या की रात मे माता सुनीथा दासी के साथ वहां आकर उसका लेपन करती हैं और मृत्युलोक के देवताओं से वेन की आत्मा लौटा देने की प्रार्थना करती हैं। वह वेन की गरदन मे पड़ी हुई मंत्रों से अभिशप्त रस्सी निकाल लेती है और दासी को उसे पहाड़ी की तलहटी मे रोप देने को कहती है, जिससे ब्रह्मावर्त की इस धरती पर अभिशापों का जंगल फैले। इस प्रकार मानो वह शुक्राचार्य, अत्रि और गर्ग जैसे अपने पुत्र के हत्यारे मुनियो से प्रतिशोध लेती हैं। रस्सी को धरती मे रोपती हुई दासी पकडी जाती है। ब्रह्मावर्त मे फिर दस्युओ के आक्रमण होने लगते हैं। किसी से आश्रय न पाकर मुनिगण अपने आश्रमों की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठते हैं। वे सुनीथा से वेन का शव लेकर उसकी दाहिनी जंघा का मत्रोच्चार सहित मंथन करते हैं। उससे एक नाटे कद का मनुष्य उत्पन्न होता है। जो जन्म लेते ही वेन के सारे पापो को अपने ऊपर ले लेता है। यही 'निपाद' कहलाया। नाटक का कथ्य निषाद ही है। उसके बाद ऋषि-मुनियों ने वेन की दाहिनी भुजा का मंथन किया। उससे देवराज इन्द्र के समान रूपवान, अस्त्र-शस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित तेजस्वी और प्रतापी पुरुष प्रकट हुआ। उसका नाम पृथु था। कुछ समझौतों और वचनों के बाद पृथु को 'राजा' घोषित किया गया। पृथु ही पहला राजा था।

नाटक मे सुनीथा की भूमिका बहुत कम – शायद सबसे कम—है। परन्तु वह एक शक्तिशाली चरित्र है। सुनीथा अत्यन्त सकल्पवान, दृढ, स्वाभिमानिनी, व्यथित और प्रतिशोध की आग मे जलती हुई नारी के साथ-साथ अत्यन्त करुण-कोमल, ममत्वपूर्ण मा के रूप मे चित्रित की गई है। अट्ठाईस दिन और रात से वह अपने पुत्र वेन के शव की रक्षा कर रही है। वह मृत्युलोक के देवताओं से वेन के प्राण लौटा देने की प्रार्थना प्रतिदिन करती है। कुछ नहीं होना परन्तु वह थकती नहीं; पराजित नहीं होती। उसमे शक्ति और साहस इतना है कि वह ऋषि-मुनियों से नहीं डरती

और दासी से पृथु को अभिशप्त रस्सी को धरती में रोप देने को कहती है जिससे इन्द्र की धरती पर अभिशापों का असर पड़े और कुचक्री मुनि अपने किए का फल भुगतें।

सुनीथा स्वाभिमानिनी इतनी है कि अत्रि आदि मुनियों द्वारा सहानुभूति प्रकट किए जाने पर स्पष्ट कह देती है—'मैं आपके तरस की भिखारिणी नहीं हूँ।'[1] आत्मविश्वासी इतनी कि ऋषियों से बेझिझक कह सके—'मैं जानती थी कि आप लोगों को लौटना होगा मैं जानती थी ...।'[2] शुक्राचार्य आदि उससे समझौता करने आते हैं तो वह उनकी निन्दा और भर्त्सना करती है परन्तु अपने पुत्र को किसी भी रूप में जीवित देखने के लिए मुनियों को उसके शव-मंथन की आज्ञा दे देती है। नाटककार ने सुनीथा के समाज सेविका रूप का भी संकेत किया है। पृथु के यह कहने पर कि 'माता सुनीथा। युद्ध के घायलों की शुश्रूषा भी होनी है।" वह उत्तर देती है—'मैं करूंगी। मैं इसी दिन की प्रतीक्षा में थी।'[3] इसके पश्चात् दूसरे अंक के मध्य में गर्ग के संवाद द्वारा ज्ञात होता है कि राजमाता सुनीथा परलोक सिधार चुकी हैं। सुनीथा के चित्रण में नाटककार ने बहुत अधिक रंग नहीं भरे फिर भी इस पात्र के चरित्र की रेखाएं अत्यन्त स्पष्ट, पुष्ट और भास्वर हैं। अपनी शक्ति से ऋषि-मुनियों और देवताओं को ललकार देने वाली सुनीथा अन्धा-युग की गान्धारी का स्मरण करा देती है।

सुनीथा की दासी यद्यपि केवल दासी ही है फिर भी उसपर अपनी स्वामिनी का गहरा प्रभाव है। वह स्पष्टवादिनी, निडर, स्वाभिमानिनी और स्वामिभक्त दासी के रूप में चित्रित की गई है।

पहला राजा के सूत और मागध सुनीथा की दासी को अभिशप्त रस्सी रोपते हुए पकड़ते हैं और वही दस्युओं द्वारा आश्रम पर आक्रमण तथा अकस्मात् पृथु एव कवष द्वारा उसकी रक्षा का समाचार भी देते है। पृथु के प्रकट होते ही सूत और मागध उसका स्तुतिगान करते है। पृथु उन्हें अकारण स्तुति से रोकता है और उन्हें अनूप प्रदेश का शासक नियुक्त करता है। नाटककार ने सूत-मागध का स्वरूप आज-कल के प्रचारक और विज्ञापनकर्ताओं के अनुरूप गढा है।

विवेच्य नाटक के 'सूत्रधार और नटी' में यूनानी कोरस, असमिया अकियानाट के सूत्रधार और सगी तथा पुराण महाभारत के वैशम्पायन, सूत और शौनक सभी का मिश्रण हो गया है। इनका उपयोग लेखक ने कथा-सूत्रों को जोड़ने और विभिन्न पात्रों के अन्तस्तल की भांकी प्रस्तुत करने के लिए किया है। निःसन्देह इनकी अव-

१. पहला राजा, पृ० ३२
२. वही, पृ० ४८
३. वही, पृ० ३२
४. वही, पृ० ४८

तारणा एक अच्छा प्रयोग और नाटक की आवश्यकता है परन्तु कहीं-कहीं इनकी भूमिका आरोपित और इनकी व्याख्याएं अनावश्यक लगती हैं। कुछ स्थलों पर इनकी उपस्थिति पात्रों को बाधती है और उनके कार्य क्षेत्र को अकारण ही सीमित करती है—उदाहरण के लिए दूसरे अंक में जहा पृथु का अन्तर्द्वन्द्व फूट पडना चाहता है और वह अपने को खुल कर अभिव्यक्ति देने का तीव्र आकांक्षी है वहीं सूत्रधार-नटी उसे अभिशप्त कुशा की रस्सी की भाति बाध देते है।

शुक्राचार्य अत्रि और गर्ग को नाटककार ने एक सामूहिक भूमिका और चरित्र देकर भी उनका निजी वैशिष्ट्य बनाए रखा है। कुछ समीक्षकों का विचार है कि आज की समस्याओं का आभास देने के लिए शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग जैसे महान् ऋषियों को बिना किसी प्राचीन आधार के षड्यंत्रकारी, वाग्वीर राजनीतिज्ञों कुचक्री मन्त्रियों, धन-लोलुप, स्वार्थी, पूजीपतियों तथा भ्रष्टाचारी ठेकेदारों की सम्मिलित भूमिका निभाने वालों के रूप मे प्रस्तुत करना नितात आपत्तिजनक एवं कुरुचिपूर्ण कार्य है[1]। ऐसे समीक्षकों से केवल यही कहा जा सकता है कि अच्छा हो वे साहित्य के स्थान पर शास्त्रों का ही अध्ययन करें। इससे उनका और साहित्य का दोनों का भला होगा। साहित्यिक कृति का अपना एक संसार होता है और उसके पात्रों का स्वरूप उसी से निर्धारित होता है। रचना से न्याय करने के लिए उसी के मध्य से होकर गुजरना जरूरी है। बने-बनाए साचों में पात्रों को जबरदस्ती ठूसने का प्रयास साहित्यिक दृष्टि से सराहनीय नहीं माना जा सकता। श्रीमद् भागवत् मे अत्रि मुनि प्रेरक और उद्बोधक (अश्वमेघ यज्ञ के प्रसंग मे पृथु को इन्द्र का मुकाबला करने को प्रेरित करने के सन्दर्भ में) के रूप मे प्रस्तुत किए गए हैं। नाटककार ने उन्हे आधुनिक वाग्वीर बना दिया है। अंग का चरित्र कुछ-कुछ समझौतावादी व्यक्ति से मिलता-जुलता है और शुक्राचार्य इनकी अपेक्षा कूटनीतिज्ञ और अधिक दूरदर्शी हैं। भृगुवश और आत्रेयवश की पारस्परिक स्पर्धा और पार्टीबाजी का प्रसंग कल्पित होते हुए भी वशिष्ठ और विश्वामित्र की सर्वविदित स्पर्धा के अनुरूप गढ़ा गया है। नाटक में अपने स्वार्थ के लिए जनहित को त्यागकर बाध मे ढील देने का कुचक्र पौराणिक कथा की दृष्टि से काल्पनिक होते हुए भी नाटककार के जीवन मे घटित एक सत्य घटना पर आधारित है।[2]

नाटककार ने अत्रि, अंग आदि अन्य मुनियों की अपेक्षा शुक्राचार्य को अधिक कूटनीतिज्ञ, स्वार्थी, दूरदर्शी, चतुर और सचेत दिखाया है। शुक्राचार्य ने ही कवष की मां अनार्य निपाद नारी को चुपचाप रातोरात अग के पास भेज दिया था, जिसमें

१. आधुनिक जीवन का तीन स्तरों पर साक्षात्कार : विष्णुकात शास्त्री—(धर्मयुग : ११ जनवरी, १९७० : पृ० २२)

२ देखिए—पहला राजा : विशेष टिप्पणियां : पृ० १४४

कि वेन की निषाद संतान ब्रह्मावर्त से दूर रहे। शुक्राचार्य ही वेन के शव-मंथन का नाटक रचकर पृथु को उसका भुजापुत्र बनाकर उसे राजा घोषित करते हैं और राजा को निरंकुशता से दूर रखने के लिए पहले से ही विधान से बांधकर वचनबद्ध करा लेते हैं। शुक्राचार्य राजा के पुरोहित मंत्री, गर्ग ज्योतिष मंत्री तथा अत्रिमुनि अमात्य बनते हैं। परन्तु अपनी चातुरी और शक्ति से शुक्राचार्य प्रधानमंत्री की शक्ति हथिया लेते हैं। दूसरे अंक में अत्रि का यह कथन 'जहां आप (शुक्राचार्य) हैं वहीं मंत्रिमंडल है।' इसी का प्रमाण है। पृथु के निहत्थे उत्तेजित जनता के बीच घुस जाने पर वही अनुमान लगाते हैं कि 'पृथु की शक्ति वेन से बढ़कर हो जाएगी।'[1] और वही उसे एक ही झटके में भूचण्डिका की ओर मोड़कर प्रजा के असीम स्नेह और लोकप्रियता से तोड़कर अलग कर देते हैं। अत्रि को भी स्वीकार करना पड़ता है – धन्य है हे शुक्राचार्य तुम्हारी शुक्रनीति। प्रजा अब हम लोगों की मुट्ठी में होगी। भृगुवंशी मानता हूं तुम्हारा लोहा।'[2] नाटक के तीसरे अंक में इन मुनियों को स्वार्थी पूंजीपतियों, पार्टीबाजों और भ्रष्टाचारी ठेकेदारों के रूप में चित्रित किया गया है। इनकी आवश्यकता के सम्बन्ध में एक नाट्य समीक्षक का यह विचार उचित ही है कि शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग, सूत-मागध सभी मंच की चित्रात्मकता भी बढ़ाएंगे और गुटबाजी, विज्ञापनबाजी, नारेबाजी, सौदेबाजी की ओर भी ध्यान आकृष्ट करेंगे।'[3]

पहला राजा में कवष और उर्वी का प्रसंग आकर्षक एवं करुण-कोमल तथा उनकी भूमिकाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कवष पृथु के अधूरे पुरुषार्थ का अभीष्ट [illegible] है, एक ही व्यक्तित्व के दो खण्ड जो अज्ञात एक-दूसरे की प्रतिध्वनि-मात्र रह जाते हैं।

महाभारत और पुराणों में कवष की कथा का वेन और पृथु की कथाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है। कवष का उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण में है। वह दासी पुत्र था। ऋग्वेद में उसके पिता का नाम ईलूष कहा गया है। सरस्वती तट पर उसने ऋषि-मुनियों के साथ यज्ञ में भाग लेना चाहा परन्तु दासीपुत्र होने के कारण आश्रम से निकाल दिया गया। निर्वासित निषाद (कवष) रेगिस्तान को चला गया। वहां उसने सरस्वती की स्तुति की जिसके फलस्वरूप रेगिस्तान में ही सरस्वती का जल उसके चारों ओर प्रकट हो गया। जब ऋषियों ने निषाद की स्तुति की महिमा देखी तो उन्होंने उसे अपने आश्रम और यज्ञों में सम्मिलित कर लिया।

निषाद' शब्द का अर्थ है ब्राह्मण या क्षत्रिय पिता और शूद्र माता से उत्पन्न सन्तान। 'निषाद' शब्द पर्वतों और जंगलों में रहने वाली अनार्यों के लिए भी प्रयुक्त

१. पहला राजा : पृ० ६५
२. पहला राजा : पृ० ७१
३. दिनमान : ७ सितम्बर, १९६९ : पृ० ४२

होता है। वेन की जांघ से उत्पन्न निषाद ही उनका पूर्व पुरुष माना गया है। निषाद के जंघापुत्र होने के सम्बन्ध में नाटककार की व्याख्या है कि 'इस कथा मे वस्तुतः वेन की किसी जारज, वर्णसंकर सन्तान की ओर संकेत है। जाघ के मंथन से और कोई आशय नही हो सकता। वेन का किसी आर्येतर कन्या से सम्बन्ध रहा होगा और उसकी सतान आर्य मुनियों को अस्वीकार्य रही होगी।'[1] इसी अस्वीकार के विन्दु पर आकर नाटककार को निषाद और कवष में साम्य दीखा और उसने अपने नाटक मे वेन के जघापुत्र निषाद और सरस्वती के जल को प्रकट करने वाले दासी पुत्र कवष को एक ही व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कर दिया। कवष द्वारा मरुस्थल मे सरस्वती के जल के आह्वान के प्रसग मे लेखक ने कल्पना की कि शायद रेगिस्तान तक सरस्वती के जल को किसी प्रकार की नहर द्वारा ले जाया गया होगा।

नाटक मे वेन की वर्णसंकर संतान कवष और देवप्रस्थ के आर्यकुल का वंशज पृथु गुरुभाई है। वेन की मृत्यु का समाचार सुनकर अपने गुरु अंग की आज्ञा से पृथु कवष को ब्रह्मावर्त (स्थानेश्वर) छोड़ने आता है। मार्ग में वे दोनों मिलकर दस्युओं से आश्रम की रक्षा करते हैं। कवष प्रतिभा संपन्न युवक है। उसी की विलक्षण प्रतिभा से पृथु आश्रम मे दो घोड़ों से एक सेना का काम लेता है। पृथु (वस्तुतः अंग) के शब्दों मे, "' कवष की काली चमड़ी के नीचे एक शुभ्र धारा बहती है।'[2] परन्तु ऋषि-मुनि जले खम्बे के समान रंग और लाल आंखो वाले कवष को वेन का जंघापुत्र घोषित करते हैं और तेजस्वी आनन, गौर वर्ण पृथु को वेन का भुजापुत्र कहकर राजा बना देते हैं।

कवष शासक बनने का इच्छुक नही है। वह पृथु के साथ त्रिगर्त वापस लौट जाना चाहता है। परन्तु पृथु राजा बन जाता है। ब्रह्मावर्त के लोग कवष को जंघापुत्र कहकर तिरस्कृत करते हैं तो उसका मन वितृष्णा, व्यंग्य और कटुता से भर जाता है। फिर भी उसके मन की पावनता ब्रह्मावर्तवासियो को डाकुओ के आक्रमण की सूचना देने पर विवश करती है। पृथु के समक्ष अपनी स्थिति देखकर उसके हृदय मे हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। पृथु द्वारा कवष को अपना सेनापति बनाए जाने पर वह कह उठता है—पृथु, तुम्हारे मन्त्रिमण्डल के मुनियो ने तो मुझे जंघापुत्र घोषित किया है। मुझे तो जंगल की जातियो का सरदार बनना है, तुम्हारा सेनापति नहीं।"[3] उसके मन की यह कुंठा अन्य स्थानो पर भी प्रकट होती है, जैसे पृथु से व्यंग्यपूर्ण लय मे कहा गया उसका यह कथन—उर्वी आर्य-विरोधी दस्यु और मैं आर्यों का दास निषाद।"[4]

१. पहला राजा : पृष्ठभूमि : पृ० १११
२. वही पृ० २७.
३ वही, पृ० ४६
४. वही : पृ० ५०

तथा 'नहीं ! यह धनुष मेरे लिए नहीं है। मैं जंघापुत्र हूं। मानस पुत्र राजन् 'तुम्हारे साथ कंधा भिडाकर मैं युद्ध नहीं कर सकता।'[1] कवष के चरित्र में जो शक्ति और ऊर्जा है (जिसका परिचय हमें तीसरे अंक में मिलता है) उसके मूल में यही हीनता-ग्रन्थि है। एडलर का हीनता की क्षति पूर्ति का सिद्धान्त।[2] कवष पर पूर्णतया लागू होता है। पृथु के साथ कंधा भिडाकर वह युद्ध नहीं कर सकता तो क्या हुआ, वह दूसरे मोर्चे पर लड़ेगा—सरस्वती की धारा को घेरने वाले रेगिस्तान के विरुद्ध। यह ग्रन्थिपूर्ण परिपक्व हो जाती है जब कवष का बालसखा, गुरुभाई पृथु भी उत्तेजित होकर उसे 'जंघापुत्र' कह देता है और कवष शुक्राचार्य के आश्रम से अपमानित करके निकाल दिया जाता है। वह जाते समय घोषणा करता है कि वह मुनि बनकर आश्रम में लौटेगा। उसने अपने बाहुबल से रेगिस्तान के सूखे वक्षस्थल में नहर की रेखा खींच कर सरस्वती के प्रतप के पावन जल का आचमन किया—मुनि बना—परंतु कुचक्री मुनियों ने उसे आश्रम में लौटने के लिए जीवित नहीं छोड़ा। मुनियों ने स्वार्थवश बाध पर श्रमिक नहीं भेजे। परिणामस्वरूप प्रचण्ड बाढ से अधूरा बाँध टूट गया। नहर सदैव के लिए सूनी रह गयी और पुरुषार्थ का प्रतीक कवष अपनी बाल सखी उर्वी को डूबने से बचाने में स्वयं भी डूब गया।

पहला राजा की उर्वी प्रतीक भी है और व्यक्तित्व-सम्पन्न चरित्र भी। उर्वी पृथु और कवष की बाल-सखी है जो उससे निश्छल प्रेम करती है। वह कुलून की सुदूर घाटियों से उसकी खोज में ब्रह्मावर्त तक चली आई है। उर्वी का अर्थ है — धरती। नाटककार ने पृथु की कथा में आए धरती की प्रतीक कथा वाले प्रसंग को प्रत्यक्ष गोचर और नाटकीय रूप देने के लिए उर्वी को एक प्रतीक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। वह अर्चना में कहती है—मैं धरती को हथेली की तरह जानती हूं कहा उसका रस है, कहा उसके खजाने।'[3] तथा 'मेरी सखी एक ही है धरती ! .. धरती जो नदी की तरह मुझमे घुल-मिल जाती है।'[4] वह भविष्य वाणी करती है कि आने वाले समय मे कड़कड़ाती धूप की ज्वाला में ब्रह्मावर्त के ताल तलैया, नदी-नाले सब सूख जाएँगे। बेचारी धरती सिकुड़ जाएगी। धरती के प्रतीक रूप में ही वह नाटक के तीसरे अंक में पृथु को धरती का समुचित रूप से दोहन करने के लिए प्रेरित करती है। धरती उसकी नस-नस में समा गई है; वह धरती की आवाज है जो पुकार कर पृथु को कहती है — हां ! उठाओ यह धनुष और इसकी कोटि से उखाड़ो

१. पहला राजा : पृ० ५१
२. देखिए—मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा डा० सीताराम जायसवाल पृ० ४४६.
३. पहला राजा : पृ० ३६
४. वही : पृ० ३६

मिलाओ को, ऊंचे नीचे टीलों को समतल करो। मेंडो में पानी ठहरेगा। मिट्टी में नमी आएगी। हरियाली फैलेगी ! बालू से रुकी हुई नदियों की धाराएं फिर बह निकलेंगी। और तब सर्वकाम दुहा गौ की धरती मां के स्तनों में सैकड़ो मानवसंतान के लिए दूध उतरेगा।''[1] उर्वी ही पृथु को उसके स्वप्न का अर्थ समझाती है।

इस प्रतीकार्थ के साथ-साथ उर्वी का यथार्थ चरित्र भी कम पुष्ट और प्रखर नही है। वह कवष और पृथु को समान रूप से प्रेम करती है। अर्चना को समझाते हुए वह कहती है—नेह भी खोज है। मेरे मन का मेघ दो तालों के दर्शनो में भाटना है।[2] वह कुलूत की घाटी से ब्रह्मावर्त में इसलिए आई है क्योंकि 'ब्रह्मावर्त बहेलियों का जाल है। दो नादान कबूतर उसमें कहीं फंस न जाएं।' वह उतनी ही देर यहां रुकना चाहती है जितना उन तीनों के लौटने के लिए जरूरी हो। इसे भाग्य की विडम्बना कहें या परिस्थितियों की क्रूरता कि तीनों में से कोई भी इस जाल में से निकल कर वापस नहीं लौट पाता। उसमें स्वाभिमान इतना है कि अर्चना के प्रश्न 'सुनो ! मेरे साथ रहोगी ?' का स्पष्ट उत्तर देती है दासी बनकर या सखी ?[3] वह कर्मठ और उत्साही इतनी है कि बांध के निर्माण में ही अपने प्राण त्याग देती है।

उर्वी का चरित्र यथार्थ और प्रतीक कर्म और कल्पना के दो छोरों के बीच गतिशील है वह धरती की आत्मा है; पुरुषार्थ को चुनौती है। वह लोक जीवन की अन्तर्ध्वनि है। 'उर्वी का चरित्र इतना पुष्ट है कि वह जहां अनुपस्थित है वहां भी उपस्थित है।'[4]

अर्चना या अर्चि पृथु की पत्नी है। श्रीमद् भागवत् के अनुसार जिस समय वेन की दाहिनी भुजा से पृथु उत्पन्न हुए उसी समय सब अलंकारों से सुशोभित उनकी रानी भी उपस्थित हुई। नाटककार ने अर्चना को एक आश्रम कन्या और गर्ग मुनि की दत्तक पुत्री के रूप में प्रस्तुत किया है।

नाटक मे अर्चना का प्रथम दर्शन उर्वी के साथ प्रथम अंक मे होता है। अर्चना उर्वी को अपनी सखी बनाना चाहती है। परन्तु वह नही मानती और अर्चना रहस्यमय ढंग से गर्व के साथ मच से चली जाती है। पृथु अकेला न रहे इसलिए अर्चना को रानी बना दिया जाता है। वह पत्नी के रूप मे पृथु से कहती है—मैं आपकी अर्धांगिनी हूं। जो बयार आपको छुएगी क्या वह मुझे नही झकझोरेगी ?[5] एक नारी होने के नाते वह पृथु पर संदेह भी करती है कि वह उर्वी को प्रेम करता है। वह पृथु से

---

१. पहला राजा : पृ० ८२
२. वही, पृ० ३७
३. वही : पृ० ३६-३७
४. दिनमान : ७ सितम्बर : १९६९ : पृ० ४३
५. पहला राजा : पृ० ४७

व्यक्त कर देती है—आरती उत्त, मन का यह उचाट। अब समझी प्रेयसी के पास के आगे गृहिणी का बंधन बासी लगता है न।' अर्चना केवल ईर्ष्यालु पत्नी ही नहीं निडर और साहसी नारी भी है। पृथु के निहत्थे भीड़ में जाने की बात सुनकर वह भी तुरन्त उत्तेजित भीड़ में चली जाती है। राजा के सरस्वती पार अनार्य खण्डहरों में जाने की बात सुनकर वह भी पीछे जाना चाहती है। गर्ग के मना करने पर वह उत्तर देती है—'पिताजी, स्त्री की सुकुमारता धलकार है, बंधन नहीं। आर्य-पुत्र की किस समर-यात्रा में मैं उनके साथ नहीं गई ?'[1] और वह वहां भी पहुंच जाती है। अर्चना में नाटककार ने प्रेयसी, पत्नी, रानी और नारी रूपों के विभिन्न रंग भर कर उसके चरित्र को सजीव बना दिया है।

पहला राजा—पृथु नाटक का नायक है। पुराणों में पृथु को एक दृढ़-संकल्प, सत्यप्रतीक, महान् विजेता, ब्राह्मण-भक्त, शरणागत वत्सल और दण्डपाणि अवतारी पुरुष के रूप में प्रतिष्ठा हुई है। लेकिन नाटककार के अनुसार 'इससे भी अधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक है उत्पादन बढ़ाने वाला, उसे समतल कर उसकी आर्द्रता का सवर्धन करने वाला, कृषि और सिचाई और भूविभाजन का प्रमुख नेता पृथु। महाभारत, पुराण, शतपथ ब्राह्मण इत्यादि में इस पृथु का स्पष्ट विवरण है और मुझे इसी पृथु ने आकृष्ट किया।'

लेकिन पहला राजा का पृथु केवल यही नहीं है। वह विभिन्न स्तरों पर गहरे अन्तर्द्वन्द्व झेलता और अनेक दुविधाओं एवं आकर्षणों के बीच झूलता हुआ मनुष्य है। हिमालय का पुत्र जो प्रकृति की निश्छल क्रोड में सो जाना चाहता है, आर्य-युवक जो पुरुषार्थ और शौर्य का पुंज है; निषाद एवं अन्य आर्येतर जातियों का बंधु जो एक समन्वित संस्कृति का स्वप्न देखता है, दरिद्रता का शत्रु और निर्माण का नियोजक जिसे चक्रवर्ती और अवतार बनने के लिए विवश किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी अनेक रंग हैं जो इसके चरित्र को जीवन्त, मानवीय और प्रखर बनाते हैं।

नाटक का पृथु हिमालय में व्यास और सतलज की घाटियों के बीच त्रिगर्त और कुलूत के देवप्रस्थ के आर्यकुल का वंशज और भृग का शिष्य है। कवष और उर्वी उसके बालसखा हैं। वह अपने गुरु की थाती—कवष, राजमाता सुनीथा को सौंपने स्थाण्वीश्वर आता है। परन्तु मुनिगण कवष को वेन का जघापुत्र और पृथु को भुजा-पुत्र कहकर पृथु को अपना राजा घोषित कर देते हैं। उर्वी भी इन दोनों को ढूंढ़ती हुई वहीं आ जाती है। हिमालय ने पृथु को स्वप्न नहीं शक्ति दी है। वह प्रत्येक चुनौती का सामना करने के लिए तैयार है परन्तु उसका द्वन्द्व है—वायदे और चुनौती

१. पहला राजा : पृ० ५८
२. वही। पृ० ७१
३. वही : पृष्ठभूमि : पृ ११६

के बीच किसे वरूं ?"[1] चुनाव और वरण के बीच पृथु का यह द्वन्द्व उसे आधुनिक मनुष्य के निकट ले आता है। उर्वी पृथु के हृदय में गहरे पैठी है। वह उसकी बाल-सखी और सहचरी है। उर्वी और हिमालय के प्राकृतिक स्वप्निल परिवेश में टूटकर उसका ''' मन भटकने लगता है। मानो जिस वृक्ष के बसेरे में से पंछी उड़ा था, लौटने पर उसे कटा हुआ पाकर भटकने लगे।'[2] तेजस्वी आनन, गौर वर्ण और बलिष्ठ भुजाओं वाला साहसी पृथु ब्रह्मावर्त का पहला राजा बनता है। विधान के बंधन में बंधता है। तीसरे और पांचवें वचनों (वेदपाठी ब्राह्मण अदण्डनीय होंगे तथा समाज को वर्णसंकरता से बचाना) पर उसका हृदय विद्रोह करता है और बिना वचन दोह-राए कुशा की रस्सी में गांठ लगा देता है। सूत-मागध को व्यर्थ की स्तुति से रोकता है और अपने मन्त्री-मण्डल का गठन करता है। वह कवष को सेनापति बनाना चाहता है परन्तु वह इस पद को अस्वीकार कर देता है। राजा बनने पर नये उत्तरदायित्व के समक्ष चिरपरिचित उर्वी भी उसे दस्युकन्या—आर्यों के वैरी डाकुओं की कन्या प्रतीत होती है। उर्वी उसकी सहचरी है अतः तब भी उसे लगता है कि 'मुझे अपने नये उत्तरदायित्व में उसकी भी जरूरत है।' परन्तु कवष उसके अवचेतन का उद्-घाटन कर देता है—'तुम्हारा मतलब है अंकशायिनी, लेकिन सहधर्मिणी नहीं ? यही तुम्हारी चाल है, राजा पृथु।'[3] तब वह उत्तेजित हो जाता है और कवष को बुरा-भला कहता है।

पृथु के व्यक्तित्व मे कर्म की स्फूर्ति और संकल्प की प्रबल लालसा का सहज सह-अस्तित्व है, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त स्वाभाविक है। युद्ध और संघर्ष के लिए उत्तेजित पृथु धनुष की टंकार करता है और उसके तुरन्त बाद सुनाई पड़ती है अर्चना की पायल की झंकार। पृथु को लगता है 'मैं ही डमरू हूं और मैं ही बंसी।' वह अर्चना से कह उठता है—'आओ, हिल्लोर उठ रही है। एक ही उठान मे तुम्हारी धरती का आलिंगन'' और गगन की हलचल। एक ही उन्माद में धनुष की टंकार और प्यार का राग। कोई उलझन नहीं, कोई दुविधा नहीं।'''आओ।'[4] फ्रायडीय मनोविश्लेषण की दृष्टि से कहें तो कह सकते हैं कि 'तुम्हारी धरती का आलिंगन' का रूपक वास्तव में पृथु के अचेतन मे गहरे पैठी 'उर्वी' के कारण ही आया है, जिसे वह अर्चना के रूप मे पा रहा है, क्योंकि उर्वी का अर्थ भी धरती है। रंग निर्देश में वातावरण के अनुकूल संगीत-विधान के लिए लेखक ने लिखा है 'नेपथ्य

" राजा : पृ० २८
: पृ० ३०
३. पृ० ५२
४. वही, पृ० ५३

है अपने [illegible] की [illegible] बीच [illegible] का अनुराग-भरा स्वर।" यह गम्भीर [illegible] की [illegible] है।

इसी [illegible] की [illegible] से मुक्त हो चुकी है। आश्रमों में [illegible] है। [illegible] है। [illegible] स्थिर है। मृत-सागर [illegible] की [illegible], [illegible] की [illegible] को अपनी वाणी के माध्यम पर फहराता [illegible] है परन्तु पृथु को यह [illegible] लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वह रोगी है। [illegible] है कि वह कौन-सा 'रोग' है जो उसे घुन की तरह भीतर ही भीतर खोखला कर रहा है और उसके जीवन को अवसाद की तीव्र अनुभूति से भरता जा रहा है। वह अपने मन की इस व्यथा को, अनुभूति को अर्चना के इन शब्दों में व्यक्त करता है—'किसी ऊंची चट्टान की कड़ी चढ़ाई तय कर लेने के बाद देखता हूं पठार, रेगिस्तान धूलि।... इसका क्या अर्थ अर्चना ? ... मैं तो चढ़ाई का आदी हूं। ...यह अन्तहीन ऊब जिसने मुझे आ घेरा है।...ऊब। आने-जाने श्वासों की मरुभूमि।... कानन में ध्यान, जमी हुई ठिठुरन...क्योंकि हवा ठहर गई है...और हड्डियों को सेंकने वाले झकोरे आते ही नहीं।"[1] अर्चना पृथु के इस अवसाद को अपने राशि-राशि देह-वैभव में डुबा देना चाहती है। परन्तु पृथु को लगता है कि यह पलायन है। वह अर्चना को समझाता है, 'अर्चि सुनो! .. एक तराजू है मेरा यह तन-मन। एक पलड़े पर तुम्हारे आलिंगन का सोना और दूसरे पर चुनौतियों का भार। ...अगर केवल · केवल प्यार के सम्मोहन में खो जाऊं तो···तो तराजू के पलड़े चचल हो जाते हैं अर्चि।'[2] परन्तु पलायन पृथु की नियति है। कभी कर्म द्वारा और कभी भोग द्वारा वह अपने-आप से भागता है। वह अपना सामना नहीं कर सकता।

पृथु के अपने-आप से पलायन के मूल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो बातें हैं। प्रथम, यह अपराध-ग्रन्थि कि ब्रह्मावर्त का शासक बनकर अपने गुरु और कवष दोनों के साथ विश्वासघात किया है। आरम्भ में ही वह कवष से कहता है—'तुम मेरे साथ रहोगे न ? ·· चाहे जो हो ? ...चाहे मैं . मैं, तुमसे धोखा भी करूं ?'[3] और दूसरी कुण्ठा है—उर्वी को प्राप्त न कर पाने की, जिसके विषय में वह अर्चि से कहता है कि 'उस दस्युकन्या की याद के कोयले भी ठंडे पड़ चुके हैं।'[4] परन्तु पाठक दर्शक और शायद अर्चना भी, सभी जानते हैं कि यही वह जलते हुए कोयले हैं जिन पर पृथु का मन झुलस रहा है। वह अन्त तक अपनी इस 'सहचरी' अपनी 'प्राण' को भूल नहीं पाता।[5] वह जानता है कि अपने से बचकर भाग रहा है। परन्तु इसके

१. पहला राजा : पृ० ५३
२. वही, पृ० ५७-५८
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ३१
५. वही, पृ० ५६
६. वही, पृ० ६८

अतिरिक्त वह और कुछ कर नहीं सकता। यह उसके जीवित रहने की अनिवार्य शर्त है। उसके लिए धर्म उपलब्धि नही उपचार है।

देश मे अकाल और सूखा पड़ता है; भूख और मृत्यु का ताण्डव होता है। जनता की शिकायत है कि 'महाराज पृथु ने जो कुछ किया है मुनियों के आश्रमों और उनके यज्ञों के लिए।'[1] निडर पृथु निहत्था उत्तेजित भीड़ मे घुस जाता है। वह जनता के उन्माद का दमन नही करता, उसका आलिंगन करता है। उसे लडाई की नई जमीन मिलती है। अकाल और भूख के विरुद्ध लड़ाई और उसकी सारी उदासी गायब हो जाती है। उसे एक अद्भुत आह्लाद का अनुभव होता है। जनता की पीड़ा उसका क्रोध बनकर मुनियों से पूछती है कि जब उन्हे दिए गए सभी वचन उसने विधिवत् पूरे किए हैं तब उसके राज्य में अकाल और भूख क्यो? परन्तु स्वार्थी और कुचक्री मुनिगण राजा के प्रचण्ड क्रोध की धारा भूचण्डिका के पूजन की ओर मोड देते हैं और सरस्वती पार के रेगिस्तान मे अनार्य खण्डहरो की ओर भेजकर उसे जनता के असीम स्नेह और लोकप्रियता से काटकर अलग कर देते हैं।

तीसरे अंक मे पृथु भूचण्डिका का पूजन ध्वस्त करने के लिए तैयार है। तभी उर्वी उसे समझाती है कि भूचण्डिका वीभत्स दानवी नहीं, मा है – भूमाता, धरती मा! उर्वी उसे आर्य और अनार्य, नाग और निषाद सबको मिलाने के लिए कहती है। उर्वी पृथु को उसके स्वप्न का अर्थ समझाती और उसे सृजन कार्य की ओर प्रेरित करती हुई कहती है तुम राजा हो, प्रजा के नेता हो। तुम्हारा पुरुषार्थ सिर्फ युद्ध और संघर्ष में ही तो नही है। मैं वसुन्धरा हू, मुझे दुह कर अभीष्ट वस्तुओं को निकालने मे भी तुम्हारा पुरुषार्थ है और तुम्हारी प्रजा का धर्म है। तुम आर्यकुल के पहले राजा हो। हे राजन्, कर्मपुरुष बनो।'[2] पृथु वहा जाकर देखता है कि अनार्य और दस्यु कहे जाने वाले वे धरती के बेटे किस तरह धरती का दोहन करते हैं। पृथु प्रतिज्ञा करता है – ओ विश्वरूपा वसुन्धरे! अपने बाहुबल से मैं तुझे समतल करूंगा, अपने पुरुषार्थ से सबको जुटाकर तेरी अनन्त सम्पदा को मानव मात्र के लिए प्रस्तुत करूंगा।'[3] राजा सूखे और अकाल का चक्रव्यूह तोडकर धरती की अनन्त सम्पदा के के दोहन का कार्य आरम्भ करता है और धरती को नया नाम देता है – पृथ्वी! वह पृथ्वी को निन्यानवे प्रकार से दुहता है। दृषद्वती की धारा को मोडने वाले बांध की पूर्ति के साथ उसका सौवा यज्ञ सम्पूर्ण हो जायेगा। वह बिना युद्धो के चक्रवर्ती बनेगा। परन्तु अंध-स्वार्थी और धन-लोलुप मुनि उस विशाल बांध को पूरा नही होने देना चाहते। वह अपने किसान-मजदूरो और कारीगरो से बांध के काम में ढील डाल देने

१. पहला राजा : पृ० ६२
२. वही : पृ० ८३
३. वही पृ० ८४

इन रूपों में मूर्तिमन्त करती है। नाटक के अन्त में पृथु का स्वगत उसके हृदय की व्यथा और द्वन्द्व को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है. "लोग कहेंगे पृथु अवतार था! ... अवतार! ... लेकिन इस मुखौटे के नीचे मेहनत के पसीने से चमकता चेहरा कौन जानेगा? इन हाथों में कुदाली की पकड़ को कौन समझेगा? किसे ध्यान होगा कि धरती को समतल बनाकर उसे दोहने वाले हाथ कौन से थे? पृथ्वी · पृथु की पृथ्वी! कौन समझेगा इन शब्दों को?" वह हृदय-विदारक और मार्मिक शब्दों में उर्वी को 'सहचरी' 'प्राण' और 'मां के रूप में स्मरण करता है। पुराणकारों ने भी पृथ्वी (उर्वी जिसकी प्रतीक है) को वही पृथु की कन्या, वही उसकी सहचरी पत्नी और वही उसकी माता का स्वरूप प्रदान किया है।

उस समय सम्भवत. ईसवी पूर्व १६वीं-१२वीं शताब्दी) आर्यों के जीवन में तीन युगान्तरकारी परिवर्तन हुए थे। पहला उनकी राजनीतिक व्यवस्था में। सत्ता मुनियों के हाथ से निकलकर शासकों (कबीले के सरदारों) के हाथ में आई और उन्होंने शासक को राजा का स्वरूप दे दिया गया। दूसरा महान परिवर्तन था आर्यों का भारत की प्राचीन आर्येतर जातियों से सम्पर्क और उन्हें अपने समाज में या समाज के इर्द-गिर्द स्थान देना। तीसरी महत्वपूर्ण बात थी जमी हुई खेती, बस्तियों और नागरिक सभ्यता के प्रति आर्यों की प्रतिक्रिया और उस प्रकार के जीवन को क्रमशः स्वीकार करना। धरती को समतल कर, उसकी सम्पदाओं का उपयोग करना; इत्यादि।

नाटककार ने पृथु को इन तीनों युगान्तरकारी परिवर्तनों का प्रतीक माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत. पृथु के चित्रण में नाटककार की दृष्टि नये भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू पर भी रही है।[2]

पहला राजा का पृथु अत्यन्त शक्तिशाली, जीवन्त, प्रखर और विभिन्न भास्वर

१. पहला राजा : पृ० ९७.

२. देखिये–धर्मयुग: ११ जनवरी, १९७०: पृ० २१.

रंगों के योग से बना चरित्र है। वह पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला, जीवन की व्यर्थता की अनुभूति से पीड़ित फिर भी निरन्तर जीवन को अर्थ देने के प्रयास में रत मानव का चित्र प्रस्तुत करता है। इस पात्र में निहित सम्भावनाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि पृथु हिन्दी नाट्य-साहित्य का अमर व्यक्तित्व बन सकता था यदि नाटककार ने उसे विभिन्न समस्याओं और विविध प्रतीकों में उलझा कर गुरु पुतला न बना दिया होता। पृथु के चरित्र की अदम्य शक्ति, उसका भीषण अन्तर्द्वन्द्व नाटक में बार-बार उभरना चाहता है वह छटपटाकर बार-बार अपने भीतर के सत्य को, उबलते हुए लावे को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है परन्तु नाटककार और उसके सूत्रधार-नटी बार-बार उसे वहीं दबा देते हैं। काश ! नाटककार ने पृथु को उसकी परिस्थितियों से जूझने के लिए अकेला छोड़ दिया होता।

पृथु के चरित्र का विकास भी एक बंधे-बंधाए रूप में किया गया है। प्रथम अंक में पराक्रमी, वीर श्रेष्ठ योद्धा, और मुनियों-ऋषियों के रक्षक का रूप, द्वितीय अंक में प्रजा-नायक का रूप और तृतीय अंक में कर्मपुरुष का रूप। यह तीनों रूप यद्यपि पृथु के ही हैं परन्तु इनमें कोई आन्तरिक-जैविक अन्विति नहीं है।

फिर भी, कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि पहला राजा हिन्दी नाट्य-साहित्य की एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपलब्धि है। पृथु, कवष, शुक्राचार्य और उर्वी के चरित्र हिन्दी नाटक के स्मरणीय चरित्रों में गिने जाने योग्य हैं।

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी नाटक में चरित्र-सृष्टि का विकास-क्रम अपने-आप में बहुत कुछ वैविध्य तथा जटिल होते हुए भी, स्वरूप और प्रकृति की दृष्टि से काफी हद तक परिवेश से प्रभावित होता रहा है—यह बात नाटक ही क्या जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिए उतनी ही सही है। बीते कल के उतार-चढ़ाव और समसामयिक बहावों-प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के पश्चात् भावी सम्भावनाओं का पूर्वानुमान असम्भव नहीं—कुछ संकेत भी दिए ही जा सकते हैं।

राधेश्याम के वीर अभिमन्यु से डा० लाल के मिस्टर अभिमन्यु तक हिन्दी नाटक की प्रगति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, उल्लेखनीय और गौरवपूर्ण उपलब्धि है। पारसी रंगमंच के एक आयामी, सम्मोहन, सपाट, बाह्य संघर्ष से परिपूर्ण उच्चवर्गीय वर्गपात्रों और प्रसाद के महिमामंडित नायकों से त्रिआयामी, जटिल-संश्लिष्ट, शरीर और मन के विभिन्न द्वन्द्वों-संघर्षों से अनेकानेक मोर्चों पर लडकर अपनी परिस्थितियां में जीवन के अर्थ और अपने सही सन्दर्भ तलाशते हुए चरित्रों का विकास हम विगत अध्यायों में देख चुके हैं। प्राचीन महानायकों के स्थान पर नाटक में अपने-आप से जूझने और परिस्थितियों से लड़ते हुए टूटते, पुंसत्वहीन और अस्तित्वहीन चरित्रों का आगमन आज की युग चेतना के अनुकूल है। डा० सुषमा धवन के शब्दों में — आधुनिक गत्वशील संस्कृति महाकाव्य के नायक को जन्म नहीं दे सकती जिसमें दृढ़ निश्चय हो, अपराजेय साहस हो, असीम आदर्शवाद हो और समाज को बदलने की शक्ति हो। आज मानव स्वयं को ऐसी परिस्थिति में जकडा हुआ पाता है जो उसे आत्मकेन्द्रित तथा आत्मरत बना देती है, जिसके कारण उसका सम्बन्ध समाज तथा बाहरी जीवन से कट जाता है या शिथिल पड जाता है।[1]

आज का नाटककार घोषणा करता है — आप महज किसी के परिचय को ही महत्व देते हैं। जाति, स्थान, कुल, परम्परा, मेरे लिए इनका कोई महत्व नहीं है। मेरे लिए सारा महत्त्व किसी के आन्तरिक परिचय का है।[2] और इस आन्तरिक

---

१ हिन्दी उपन्यास : पृ० २०५

२. डा० लाल : दर्पन : पृ० २२

रंगों के योग से बना चरित्र है। यह पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला, जीवन की व्यर्थता की अनुभूति से पीड़ित फिर भी निरन्तर जीवन को अर्थ देने के प्रयास में रत मानव का चित्र प्रस्तुत करता है। इस पात्र में निहित सम्भावनाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि पृथु हिन्दी नाट्य-साहित्य का अमर व्यक्तित्व बन सकता था यदि नाटककार ने उसे विभिन्न समस्याओं और विविध प्रतीकों से उलझा कर एक पुतला न बना दिया होता। पृथु के चरित्र की अदम्य शक्ति, उसका भीषण अन्तर्द्वन्द्व नाटक में बार-बार उभरना चाहता है वह छटपटाकर बार-बार अपने भीतर के सत्य को, उबलते हुए लावे को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है परन्तु नाटककार और उसके सूत्रधार-नटी बार-बार उसे वहीं दबा देते हैं। काश! नाटककार ने पृथु को उसकी परिस्थितियों से जूझने के लिए अकेला छोड़ दिया होता।

पृथु के चरित्र का विकास भी एक बंधे-बंधाए रूप में किया गया है। प्रथम अंक में पराक्रमी, वीर श्रेष्ठ योद्धा, और मुनियों-ऋषियों के रक्षक का रूप, द्वितीय अंक में प्रजा-नायक का रूप और तृतीय अंक में कर्मपुरुष का रूप। यह तीनों रूप यद्यपि पृथु के ही हैं परन्तु इनमें कोई आन्तरिक-जैविक अन्विति नहीं है।

फिर भी, कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि पहला राजा हिन्दी नाट्य-साहित्य की एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपलब्धि है। पृथु, कवष, शुक्राचार्य और उर्वी के चरित्र हिन्दी नाटक के स्मरणीय चरित्रों में गिने जाने योग्य हैं।

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी नाटक में चरित्र-सृष्टि का विकास-क्रम अपने-आप में बहुत कुछ अपूर्ण तथा नैतिक होते हुए भी, काल और प्रकृति की दृष्टि से काफी हद तक जीवन से प्रभावित होता रहा है—यह बात नाटक ही क्या जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिए उतनी ही सही है। बीते कल के उतार-चढ़ाव और समसामयिक बहावों-प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के पश्चात् भावी सम्भावनाओं का पूर्वानुमान असम्भव नहीं—कुछ संकेत तो दिए ही जा सकते हैं।

राधेश्याम के वीर अभिमन्यु से डा० लाल के मिस्टर अभिमन्यु तक हिन्दी नाटक की प्रगति अत्यन्त महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय और गौरवपूर्ण उपलब्धि है। पारसी रंग-मंच के एक आयामी, गरलीकृत, सपाट, बाह्य संघर्ष से परिपूर्ण उच्चवर्गीय वर्ग-गतों और प्रमाद के महिमामण्डित नायकों से त्रिआयामी, जटिल-संश्लिष्ट, शरीर और मन के विभिन्न द्वन्द्वों-तनावों से अनेकानेक मोर्चों पर लड़कर अपनी परिस्थितियों में जीवन के अर्थ और अपने सही सदर्भ तलाशते हुए चरित्रों का विकास हम विगत अध्यायों में देख चुके हैं। प्राचीन महानायकों के स्थान पर नाटक में अपने-आप से जूझते और परिस्थितियों से लड़ते हुए टूटते, पुंसत्वहीन और अस्तित्वहीन चरित्रों का आगमन आज की युग चेतना के अनुकूल है। डा० सुषमा धवन के शब्दों में – आधुनिक गतिशील संस्कृति महाकाव्य के नायक को जन्म नहीं दे सकती जिसमें दृढ निश्चय हो, अपराजेय साहस हो, असीम आदर्शवाद हो और समाज को बदलने की शक्ति हो। आज मानव स्वयं को ऐसी परिस्थिति में जकड़ा हुआ पाता है जो उसे आत्म-केन्द्रित तथा आत्मरत बना देती है, जिसके कारण उसका सम्बन्ध समाज तथा बाहरी जीवन से कट जाता है या शिथिल पड़ जाता है।[1]

आज का नाटककार घोषणा करता है—आप महज किसी के परिचय को ही महत्व देते हैं। जाति, स्थान, कुल, परम्परा, मेरे लिए इनका कोई महत्व नहीं है। मेरे लिए सारा महत्व किसी के आन्तरिक परिचय का है।[2] और इस आन्तरिक

१. हिन्दी उपन्यास : पृ० २०५

२. डा० लाल . दर्पन : पृ० २२

रंगों के योग से बना चरित्र है। वह पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला, जीवन की व्यर्थता की अनुभूति से पीड़ित फिर भी निरन्तर जीवन को अर्थ देने के प्रयास में रत मानव का चित्र प्रस्तुत करता है। इस पात्र में निहित सम्भावनाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि पृथु हिन्दी नाट्य-साहित्य का अमर व्यक्तित्व बन सकता था यदि नाटककार ने उसे विभिन्न समस्याओं और विविध प्रतीकों में उलझा कर एक पुतला न बना दिया होता। पृथु के चरित्र की अदम्य शक्ति, उसका भीषण अन्तर्द्वन्द्व नाटक में बार-बार उभरना चाहता है वह छटपटाकर बार-बार अपने भीतर के सत्य को, उबलते हुए लावे को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है परन्तु नाटककार और उसके सूत्रधार-नटी बार-बार उसे वहीं दबा देते हैं। काश ! नाटककार ने पृथु को उसकी परिस्थितियों से जूझने के लिए अकेला छोड़ दिया होता।

पृथु के चरित्र का विकास भी एक बंधे-बंधाए रूप में किया गया है। प्रथम अंक में पराक्रमी, वीर श्रेष्ठ योद्धा, और मुनियों-ऋषियों के रक्षक का रूप, द्वितीय अंक में प्रजा-नायक का रूप और तृतीय अंक में कर्मपुरुष का रूप। यह तीनों रूप यद्यपि पृथु के ही हैं परन्तु इनमें कोई आन्तरिक-जैविक अन्विति नहीं है।

फिर भी, कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि पहला राजा हिन्दी नाट्य-साहित्य की एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपलब्धि है। पृथु, कवष, शुक्राचार्य और उर्वी के चरित्र हिन्दी नाटक के स्मरणीय चरित्रों में गिने जाने योग्य हैं।

तीर्थ नहीं है केवल यात्रा
लक्ष्य नहीं है, केवल पथ ही।
इसी तीर्थ पथ पर है चलना,
लक्ष्य यही, गंतव्य यही है।

बादल सरकार के इन्द्रजित की यह दशा बेकेट की उपरोक्त स्थिति से तुलनीय है। तब क्या अनुमान लगाया जाए कि भारतीय-नाटक भी अब पाश्चात्य शुद्ध और ऊलजलूल (एब्सर्ड) नाटक की दहलीज पर पहुंच रहा है? निःसन्देह गम्भीर मानवीय सार्थकता की खोज हमारा लक्ष्य होना चाहिए परन्तु हमारे वर्तमान नाटक (विशेषतः बंगला) की दिशा उसकी किस परिणति का संकेत दे रही है, इसे भी भुलाया नहीं जाना चाहिए।

समसामयिक पश्चिमी रंगमंच पर गत दशक में एक ओर सम्पूर्ण नाटक और रंगमंच के नाम पर घोर नंगा रंगमंच पनपा है तो दूसरी ओर जीवित के नाम पर पर 'किल एण्ड स्मेल' का काला-गोरा, बीमार-गंदा रंगमंच तैयार हुआ है। आज वे लोग सोचते हैं 'नंगा शरीर' यथार्थ बोध के लिए अनिवार्य है। फारचून इन मेन्स आइज, डाइज इन द बैंड, 'हेयर' तथा ओह कैलकटा क्या भारतीय नाटक का भी यही भविष्य है? क्या भारत के रंगमंच पर भी विटनेस और स्वीट इरोज जैसे नाटकों के समान ही नंगी लड़की मंच के बीचोबीच कुर्सी में बांधकर अभिनेता बाना अभिनय करेंगे?[1] क्या चरित्र सृष्टि के धरातल पर यहां भी वही नाट्य-शून्यता और वामपन व्याप्त होने वाले हैं?

यह सत्य है कि जीवन को गतिशील बनाए रखने वाली व्यवस्थाएं जब विषम और कठिन होकर उसे गतिरुद्ध कर देती है तब उनमें परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है और यह अनिवार्यता विद्रोह के स्वर में बोलती है। परन्तु पश्चिम का अन्धानुकरण करने वालों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलतः और लक्षतः सामजस्यवादिनी ही होती है।[2] अतः आज हमें विश्व रंगमंच की नवीनतम उपलब्धियों को अपनाते हुए, कई स्तरों पर टूटी-फूटी पर फिर भी अत्यन्त प्राचीन समृद्ध और बहुत कुछ जीवन्त अपनी भारतीय परम्परा को भी आज के सन्दर्भ में प्रासंगिक और सर्जनात्मक बनाना है। हमारे नाटककार को चरित्र-सृष्टि के उपादान खोजते समय यह स्मरण रखना होगा कि उसके चरित्र भार-तीय मानस के साथ गहराई में जाकर कैसे तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं? [illegible] [illegible] के शब्दों में—अपने आसपास के सामान्य जीवन और उसकी [illegible]

1. शुद्ध और ऊलजलूल नाटक के बाद का जीवित-अभिनय [illegible]
(साप्ताहिक हिन्दुस्तान: ११ जनवरी, १९७० पृ० २२-२३)
2. सप्तपर्णा, महादेवी वर्मा (अपनी बात) पृ० २०

चरित्र को पाने और बताने के लिए नाटककार जीवन में गहरे और गहरे उतरता चला जाता है।

विवेच्य दशक की, हिन्दी ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय नाट्य-साहित्य की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें आद्य रंगाचार्य के सुनो जनमेजय, कभी धिस कभी पट, विजय तेंदुलकर के शांतता कोर्ट चालू आहे और तमाशा गिरीश कर्नाड के तुगलक और ययाति मधु राय के किसी एक फूल का नाम लो, तथा बादल सरकार के इन्द्रजित एवं बाकी इतिहास पगला घोड़ा, बल्लभपुर की रूप कथा, और तीसवीं शताब्दी इत्यादि उल्लेखनीय एवं बहुचर्चित नाटक प्रकाशित, अनूदित और मंचित हुए हैं। अतः साठोत्तरी दशाब्दी के भारतीय नाटक साहित्य के विषय में यह कहना इस विषय में अपने अज्ञान का प्रदर्शन ही करना है कि 'भारतीय साहित्य की सबसे कमजोर विधा नाटक है। उसमें या तो अनुवाद-युग चल रहा है : अभी भी पिरंदेलो, इब्सन (इब्सन !), चेखव या बेकेट के अनुवाद चलते हैं, या प्रयोगशीलता। जगदीशचन्द्र माथुर का एक था राजा (पहला राजा!) जैसे मिथक और अधुनातन दर्शन का मिश्रण प्रस्तुत करता है, लक्ष्मीनारायण लाल कलंकी में बहुत-सी बातें इकट्ठी करने जाते हैं और सफल नहीं होते—इसी तरह हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी बहुत सारे आधे-अधूरे नाटककार हैं।'[1] केवल दो हिन्दी नाटकों का नाम लेकर (उनमें से भी एक गलत) सम्पूर्ण दशाब्दी के भारतीय नाटकों पर इस प्रकार का निर्णय देना न तो ईमानदारी है और न समीक्षा।

आज जिस बिन्दु पर हमारा नाटक और उसका चरित्र पहुँच गया है क्या वह बिन्दु बेकेट की इस धारणा से बहुत अधिक दूर है—

कुछ कहने के लिए नहीं है,
कहने के लिए कोई साधन भी नहीं है
कहने की इच्छा भी नहीं है,
न ही कुछ कहने के लिए,
किसी से मैं प्रतिबद्ध हूं।

आधुनिक जीवन की एकरस, ऊबा देने वाली निरन्तरता के बीच साधारण से ऊपर सोचने की सजगता और फिर उससे उपजा हुआ विक्षोभ, इस चले आते आवर्तन के प्रति एक विद्रोह, फिर चलते चले जाने पर भी कुछ न मिलने का स्वप्नभंग, निरर्थकता की अनुभूति और केवल चलते जाने की नियति के स्वीकार की स्थिति का यह स्वीकार—

---

१. विद्रुप चित्रण और प्रत्यावर्तन के बीच झूलता एक दशक—डा०
—(साप्ताहिक हिन्दुस्तान—४ जनवरी, १९७० : पृ०२७)

के उच्चतर मूल्यों का निर्णय करना दूसरी बात। इस सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र का विचार है कि विघटन जीवन की विकृति ही है, प्रकृति नहीं। तत्व दृष्टि से प्रकृति ही सत्य है, परन्तु कम से कम विवर्त रूप मे, विकृति की सत्ता की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।[1] तथा विघटन या अनास्था की सच्ची चेतना अपने-आप में एक तीखे दर्द की अनुभूति है और यदि उसके भोक्ता मे इतनी शक्ति है कि वह उसका सर्जनात्मक उपयोग कर सकता है, तो उसकी रचना का कलात्मक मूल्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इस दशक के नाटककार ने मंच की भाषा से साक्षात्कार किया है। शब्द के अर्थ-बिम्ब और ध्वनि-बिम्ब के सार्थक समन्वय से समग्र एव प्रभावपूर्ण नाटकीय दृश्य-श्रव्य बिम्ब उपस्थित करने वाली नाटकोचित भाषा का निर्माण इस दशक की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आज के नाटककार मे मानव जीवन की सूक्ष्म और जटिल, अर्द्ध-अनुभूत और अननुभूत भावनाओं को सटीक अभिव्यक्ति देने वाली सशक्त भाषा का विकास कर लिया है। उसने भाषा के उल्लेखनीय सृजनात्मक प्रयोग किए हैं।

अतः आज नाटककार की ईमानदारी, अपने समसामयिक जीवन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता और परम्परा तथा आधुनिकता में सामंजस्य की खोज ही उसे भविष्य की सही दिशा का संकेत दे सकती है और इस राह से गुजर कर ही वह अपने नाटकों के यथार्थ और जीवन्त चरित्रों की सृष्टि कर सकता है। हमे आशा करनी चाहिए (और इस आशा के लिए हमारे पास पर्याप्त आधार और प्रमाण है) कि हमारा नाटककार अपने आगामी नाटकों मे हमारा साक्षात्कार ऐसे चरित्रों मे कराएगा जो हमारे जीवन के उन दुःख-दर्दों, संघर्षों और द्वन्द्वों को सशक्त अभिव्यक्ति देंगे जो हमे दिन-रात मथते रहते हैं। वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी में एक गम्भीर और सार्थक रंगमंच की स्थापना हो सकेगी।

---

१ आज का लेखन और सांस्कृतिक विघटन डा० नगेन्द्र–(धर्मयुग ७ जून १९६८ पृ० ४१)

परिशिष्ट १

कुछ अन्य चर्चित–नाटक

विवेच्य कालखण्ड की कुछ अन्य ऐसी कृतिया भी हैं जिनके नाम के साथ किसी न किसी रूप मे 'नाट्य' शब्द जुड़ा हुआ है और जिनकी समीक्षा में इस लघु-प्रबन्ध मे करना चाहता था। उदाहरणार्थ - **मि० अभिमन्यु, त्रिशंकु, बिना दीवारों के घर, एक कंठ विषपायी, उर्वशी, आत्मजयी और उत्तरप्रियदर्शी**। परन्तु अनेक कारणों से उन्हें इसमें सम्मिलित नही किया जा सका। इन कारणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण तो यही था कि इनमे से दो नाट्य-कृतियां तो अप्रकाशित थीं और शेष के साथ नाटक शब्द जुडा होने पर भी वे रंगमंचीय नाटक नही थे।

डा० लाल के **मिस्टर अभिमन्यु** और बृजमोहन शाह के **त्रिशंकु** अब तक प्रकाशित नही हुए। चरित्र-सृष्टि से ये दोनों महत्वपूर्ण नाटक हैं। **मि० अभिमन्यु** का नायक राजन उस नौकरशाही का प्रतीक है, जो आज के राजनैतिक शोषण और बेईमानी के चक्रव्यूह में फस कर उसे तोड़ने के प्रयत्न में अपनी आत्महत्या कर लेता है—शारीरिक नही, आत्मिक। श्रमिक-नेता आत्मन, जो राजनीतिक ईमानदारी और सच्चाई का प्रतीक है और नाटक के अभिमन्यु को चक्रव्यूह से बाहर निकलने की प्रेरणा देता है और उसका मार्गदर्शन करता है, राजन की आत्मा का प्रतीक बन जाता है, जिसकी हत्या कर दी जाती है। राजनीतिक पेशेवर घाघ गयादत्त के चरित्र मे संतुलन और सजीवता है। छलपूर्ण चातुरी की सशक्त निकृष्टता का पूरा समजन इस पात्र मे हुआ है। सतही और दिखावटी जीवन के खोखलेपन का व्यंग्य भी तीखा होकर उभरता है। धर्म, पुराण, समाज, शिक्षा, सम्मान, पद आदि के न जाने कितने महारथियो को मनुष्य स्वयं आमंत्रित करता है और फिर स्वयं उस चक्रव्यूह मे फंस कर छटपटाते-छटपटाते, लडते-लडते प्राण त्याग देता है। मनुष्य की यह त्रासदी प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के मानव की त्रासदी है।

'तुम क्या करना चाहते हो ?' 'क्रांति।' 'कैसे ?' 'यही तो नही मालूम।' 'कैसे क्या करूं,' यह जानने वाला डिग्रीधारी युवक बहुत कुछ करना चाहता है पर कहीं टिकने की जगह नही मिल पाती। उसे ऊँचे सपनो के बदले मे केवल दुत्कार, फटकार

[illegible] है। नाटक के एक [illegible] निर्देशक को [illegible] वाले [illegible] के [illegible] और उनके [illegible] करते-करते एक युवक मिल जाता है जो [illegible] और [illegible] के बीच [illegible] है। वह प्रत्येक वर्ग का होकर भी [illegible] है। उच्च मध्य और निम्न वर्ग के लोग और बुद्धिजीवी नाटक के लिए [illegible] प्रस्तुत करते हैं और नाटक के दौरान एक एक करके सबकी असलियत [illegible] है। [illegible] युवक [illegible] त्रिशंकु बना सबसे [illegible] है। परन्तु अपने में सिमटे हुए, दूसरों से कटे ये लोग आदर्श और [illegible] की दुनिया का [illegible] चाहते हैं। परन्तु इन सब के सजीव दोनों [illegible]। सही और [illegible] को अभिव्यक्ति देने वाले पात्रों की तलाश का [illegible] त्रिशंकु ब्रजमोहन शाह का सुन्दर प्रयोग है।

मन्नू भंडारी का पहला नाटक बिना दीवारों का घर प्रकाशित चाहे १९६५ में हुआ हो परन्तु लिखा सात-आठ वर्ष पूर्व ही गया था। तीन अंकों का यह नाटक अजित, शोभा, मीना, जयन्त, सेठ, गुप्ता, भावना, चौधरी आदि पन्द्रह पात्रों के माध्यम से आज के नारी-पुरुष और उनके सामाजिक-वैयक्तिक सम्बन्धों की तनाव-पूर्ण स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए लिखा गया है। सारा नाटक मानसिक द्वन्द्वों और आन्तरिक घुटन से भरा पड़ा है। परन्तु मूलतः कहानी लेखिका होने के कारण लेखिका को उसके मंचीय अभिव्यक्तिकरण का कोई मार्ग नहीं मिल पाया है। इसी दुर्बलता को विस्तृत रंग-संकेतों से छुपाया गया है। नाटक मंचीय भाषा के अभाव और आवश्यक संघर्ष के बिना मंच पर चलता नहीं घिसटता सा लगता है। मध्यवर्गीय पति-पत्नी के सामाजिक सम्बन्धों की असमानताएं, पारस्परिक व्यक्तित्व की श्रेष्ठता, प्रारम्भिक सन्देह की छायाएं तथा आर्थिक जटिलताओं के धरातल पर कुंठित पात्र कोई गहरी नाटकीय अनुभूति नहीं जगाते। तीसरा अंक अनावश्यक पात्रों से भरा है। नायक-नायिका को छोड़कर शेष पात्रों का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। नाटक के अन्त तक 'जयन्त' के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं चलता, यह नाटककार की शक्ति भी है और सीमा भी। अजित के ओछेपन, शोभा के स्वाभिमान, जीजी की सहृदयता को लेखिका ने कुशलता से अंकित किया है। बच्ची को अकारण ही दर्शकों से दूर रखा गया है। लेखिका ने पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। रंग-कर्म और रंग-धर्म से रहित यह नाटक कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं बन पाता।

आधुनिक मानव की जटिल मन स्थितियों और समसामयिक युग-बोध को अभि-व्यक्ति देने की दृष्टि से कुंवरनारायण का आत्मजयी और दिनकर का उर्वशी भी महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। आत्मजयी में कवि ने नचिकेता को आज के ऐसे चिन्तनशील व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो ऐसे मूल्यों के लिए जीना चाहता है जो उसमें सुख ही नहीं सार्थकता का बोध भी करा सकें। नचिकेता का पिता से मतभेद और

अपने अहंकार और भीतर के नरक से अशोक की मुक्ति का यह नाटक प्रत्ये व्यक्ति का नाटक है। अपने ही भीतर के नरक को भोगता हुआ अशोक अपने प जाना चाहता है, इस बाहरी और भीतरी नरक से ऊपर उठना चाहता है। पर मृत्यु के साक्षात्कार के बिना अमरत्व नहीं मिलता, नरक को पहचाने बिना नरक मुक्ति का कोई अर्थ नहीं। उत्तरप्रियदर्शी ऐतिहासिक कथा पर आधारित आधुनि युग-बोध का अत्यन्त सशक्त प्रतीत नाटक है। शिल्प की दृष्टि से जापानी आपे 'नोह' पर आधारित इस कृति में कथ्य की दृष्टि से काव्य, मनोविज्ञान और दर्शन क अद्भुत सामंजस्य हुआ है। प्रियदर्शी, अशोक, बौद्ध भिक्षु तथा औरों के चरित्र अत्यन प्रभावपूर्ण सशक्त और जीवन्त हैं। परन्तु अज्ञेय का यह गीति-नाट्य 'गीत' अधिक और 'नाट्य' कम है—यह बात इसके प्रदर्शन से और भी अधिक पुष्ट हो गई है।

पद्य-नाटकों में दुष्यन्त कुमार का एक कंठ विषपायी भी एक उल्लेखनीय कृति है। यह काव्य-नाटक पौराणिक परिवेश में आधुनिक युग के जर्जर रूढ़ियों और परम्परा के शव से चिपटे हुए लोगों की प्रतीक-कथा प्रस्तुत करता है। चार दृश्यों में विभाजित यह नाटक शंकर, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, दक्ष, सर्वहत, वारिणी आदि चौदह पौराणिक पात्रों के ताने-बाने से बुना गया है। बहुत दूर तक इसकी कथा दक्ष द्वारा भगवान शंकर को यज्ञ में आमंत्रित न करने की घटना संबधित है। सती का अनाहूत वहां पहुँच कर पति के सम्मान के लिए अपने प्राण त्याग देना और शिव के गणों द्वारा यज्ञ का ध्वस्त किया जाना प्रथम दो दृश्यों में दिखाया गया है। तीसरा दृश्य शंकर के निर्वेद और पत्नी-वियोग की प्रतिक्रिया से सबंधित है। वे अपनी सेना का आह्वान करके उन्हें त्रिलोक में प्रलय कर देने का आदेश देते हैं। यहां समस्या शव को ढोते जाने की है। चौथा दृश्य युद्ध के औचित्य-अनौचित्य विवेचन का चित्रण करता है।

शंकर और सर्वहत को छोड़कर शेष सभी पात्र अन्त तक अपनी निजता और वैशिष्ट्य प्रकट करने में असमर्थ रहते हैं। 'चरित्र-चित्रण की दृष्टि, से नाटककार के पास विविध रंगों का अभाव है। वारिणी केवल माता है कुछ-कुछ पत्नी भी। परन्तु उसका राजमहिषी वाला रूप कहीं प्रकट नहीं होता। दक्ष [illegible] उद्धत राजा है इन्द्र सशंकालु शासक, वरुण और कुबेर अपनी [illegible] देव, ब्रह्मा शंकर के हितैषी चिन्तक और विष्णु मानवीय दुर्बलता पर [illegible] परन्तु अवसर आने पर कर्मरत होने वाले व्यक्ति के रूप [illegible] हैं। शंकर एक मोहमयन प्रेमी हैं। उनकी पीड़ा है—

देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया...?
निर्वासन !
प्रेयसी-वियोग !!

पिता (वाजश्रवा) का क्रोध में पुत्र को . मृत्यु को दे देना न केवल नयी-पुरानी पीढ़ी के संघर्ष का प्रतीक है, अपितु उन सनातन वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणों का भी प्रतीक है जिनका एक रूप हम अपने आज के जीवन मे भी पाते हैं -- एक ओर तीव्र भौतिक उन्नति और दूसरी ओर आत्मिक स्तर पर जीवन के अर्थ खोजते मानव की पीडा। परन्तु **आत्मजयी** एक नाट्य-कविता है, नाटक नही।

रामधारी सिंह दिनकर की कृति **उर्वशी** आदिम मानव से लेकर आधुनिक मनुष्य के भीतर *अनुस्यूत समान सूत्र और उसके व्यक्तित्व के चिरंतन आन्तरिक पक्षों* की खोज करती है। पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम पर आधारित यह शाश्वत नर-नारी सम्बन्धो की जीवन्त कथा है। भूमिका मे कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मेरी दृष्टि मे पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।' रचना में उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का और पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य के प्रतीक बन जाते हैं। पुरुरवा मे द्वन्द्व है, क्योकि द्वन्द्व मे रहना मनुष्य की नियति है। वह सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी। परन्तु उर्वश द्वन्द्वो से सर्वथा मुक्त है क्योंकि वह देवलोक से उतरी हुई नारी है। पुरुरवा क वेदना समग्र मानव-जाति की चिरंतन वेदना को प्रतिबिम्बित करती है। परन्त उर्वशी मे भी नाटक की अपेक्षा कविता ही प्रबल है, अतः इसका विवेचन नहं किया गया।

दुष्यन्त कुमार का काव्य-नाटक **एक कंठ विषपायी** और अज्ञेय का गीति-नाट्य **उत्तर प्रियदर्शी** विवेच्य काल की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। कलिंग के महाप्रतापी विजेत शासक सम्राट् अशोक के प्रचण्ड और क्रूर व्यक्तित्व के आध्यात्मिक कायाकल्प की प्रक्रिया को कलाकार की संवेदनाओ ने तर्कसंगत, मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषित किया है अज्ञेय ने **उत्तर प्रियदर्शी** मे। कहा जाता है कि अशोक ने अपनी नगर सीमा के बाहर एक नरक बनाया था। नरकाधिपति 'घोर' इस नरक का एकछत्र स्वामी था। उसकी सीमाओं मे आकर स्वयं सम्राट् को भी मुक्ति नही थी, क्योंकि—

> 'नरक। तुम्हारे भीतर है वह। वही
> जहा से निःसृत पारमिता करुणा में
> उसका भय घुलता है – स्वय नरक ही गल जाता है।
> एक अहता जहा जगी—भव-पाश बिंधे, साम्राज्य बने—
> प्राचीर नरक के वही खिच गये :
> जगी करुणा— मिटा नरक,
> साम्राज्य ढहे, कट गये बन्ध,
> आप्लवित ज्योति के कमल कोश मे
> मानव मुक्त हुआ।'

परिशिष्ट-२

(आलोचनात्मक सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची)

[नोट : 'प्रथम अध्याय' का उल्लेख नहीं किया गया है।]

१. रस सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६
२. साहित्य दर्पण (विमला हिन्दी व्याख्या सहित) कविराज विश्वनाथ विद्या-वाचस्पति शालिग्रामाचार्य, श्री पं० शालग्राम शास्त्री मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-६
३. अरस्तू का काव्य शास्त्र : भूमिका लेखक एवं अनुवादक डा० नगेन्द्र, भारती भण्डार, इलाहाबाद।
४ अभिनव नाट्य शास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।
५ संस्कृत नाटक : ए० बी० कीथ अनु० डा० उदयभानुसिंह मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
६ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा सम्पादिका डा० (श्रीमती) सावित्री सिन्हा हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
७ नाटय साहित्य का अध्ययन ब्रैंडर मैथ्यूज : अनु० इन्दुजा अवस्थी, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
८. रंगमंच और नाटक की भूमिका डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६
९. हिन्दी नाट्य दर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रधान संपादक · डा० नगेन्द्र हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
१०. रंगमंच . शेल्डान चेनी : अनु० श्रीकृष्णदास हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।
११. हिन्दी नाटय साहित्य; ग्रन्थपुटी . १८६३-१९६४ : कृष्णाचार्य; अनामिका १२६ चित्तरंजन ऐवन्यू, कलकत्ता
१२. भारतीय नाट्य-साहित्य (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ) : सपा० डा० नगेन्द्र सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति नयी दिल्ली।
१३. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, सच्चिदानन्द वात्स्यायन : राधाकृष्ण प्रकाशन अंसारी रोड, दिल्ली।
१४. हिन्दी उपन्यास : डा० सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
१५. साहित्य का श्रेय और प्रेय : जैनेन्द्र कुमार ; पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।
१६. आत्मनेपद · अज्ञेय : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,
१७. चिन्तामणि (पहला व दूसरा भाग) ; रामचन्द्र शुक्ल : इण्डियन प्रेस, लिमिटेड प्रयाग।
१८ एक साहित्यिक की डायरी : गजानन माधव मुक्तिबोध भारतीय ज्ञानपीठ, ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

हर परम्परा के मरने का विष
मुझे मिला,
हर सूत्रपात का श्रेय
ले गए और लोग।
·· मैं ऊब चुका हूँ
इस महिमा-मंडित छल से... ।

वह प्रतिशोध की ज्वाला से झुलसते हुए मृत परम्परा के शव को अपनी छाती से चिपटाए व्याकुल और उद्विग्न घूम रहे हैं। राजलिप्सा और युद्ध मनोवृत्ति का मारा हुआ सर्वहत नाटक का सर्वाधिक जीवन्त पात्र है जो अनायास उभर कर आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन जाता है। उसका पक्ष है कि युद्ध बड़े लोग करते हैं, किन्तु उसका फल सामान्य-जन को भोगना पड़ता है। विष्णु के शब्दों में वह युद्धोपरान्त उग आई संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का एक भग्नप्राय: स्तूप है। उसका सारा जीवन सिर्फ एक शब्द 'भूख' में सिमट कर रह गया है। परन्तु फिर भी उसकी वाणी मूक नहीं हुई। नाटक में बोलता वह काफी है। इस काल का उल्लेखनीय काव्य-नाटक होने पर भी एक कंठ विषपायी कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से रेडियो-नाटक के अधिक निकट है। अतः इसे भी प्रमुख समीक्षित नाटकों में सम्मिलित नहीं किया गया है।

समयाभाव एवं कुछ अन्य सीमाओं के कारण विवेच्य कालखण्ड में प्रकाशित कु प्रमुख और प्रतिनिधि नाटककारों और उनकी रचनाओं को ही यहा लिया गया है इनके अतिरिक्त अन्य ऐसे नाटकों की संख्या भी कम नहीं है जो समय-समय विभिन्न मंचों पर सफलतापूर्वक खेले गए और चर्चित-प्रशंसित हुए। परन्तु अप्र और अनुपलब्ध होने के कारण इन नाटकों का विवेचन यहा प्रस्तुत नहीं कि सका, खेद है।

४२ भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य . डा० गोपीनाथ तिवारी ; हिन्दी भवन, जालधर।
४३ आधुनिक हिन्दी नाटक : डा० नगेन्द्रा ; साहित्य रत्न भंडार, आगरा।
४४ मनुष्य का भाग्य : लकाम्ते द नाय : अनुवादक-योगेन्द्रनाथ मिश्र ; पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई-१
४५ सप्तपर्णा : महादेवी वर्मा : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
४६ नया साहित्य : नये प्रश्न : नन्द दुलारे बाजपेयी विद्या मन्दिर, वाराणसी-१
४७. भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
४८. साहित्य सहचर : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी , नैवेद्य निकेतन ; वाराणसी-५
४९. विचार और अनुभूति : डा० नगेन्द्र ; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
५०. प्रसाद के नारी चरित्र : डा० देवेश ठाकुर ; नवयुग प्रकाशन : दिल्ली-६
५१ प्रसाद के नाटकीय पात्र : पं० जगदीश नारायण दीक्षित . साहित्य निकेतन कानपुर
५२. प्रसाद-साहित्य ; प० परमानन्द शर्मा ; युग-प्रकाशन-समिति, कलकत्ता।
५३. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : डा० रघुवंश; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
५४. विवेक के रंग : सम्पादक : देवीशंकर अवस्थी, ज्ञानपीठ प्रकाशन।
५५. सतुलन : प्रभाकर माचवे ; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
५६. हिन्दी नाटक : डा० बच्चन सिंह ; साहित्य भवन प्राइवेट लि०,इलाहाबाद।
५७ मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा : डा० सीताराम जायसवाल, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ।
५८. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास : डा० दशरथ ओझा, राजपाल ऐण्ड संस दिल्ली।
59. An Introduction to the study of literature · William Henry Hudson (Second Edition, April; 1954)-George G Harrap & Co. Ltd. London.
60. Dictionary of world Literature;
61 The life of the Drama . Eric Bentley; Methuen & Co. Ltd., London.
62. Theory of Drama : . Nicoll, London, 1931.
63. Play Making-William Archer.
64. Aspect of the Novel : Forster
65. Character Reading from the Face . Groce A. Rees D. B. Taraporevala Sons & Co. Pvt Ltd . Bombay-I
66 Child Behaviour : Frances L. ILG and Louise Bates Ames Hamish Hamilton Ltd., London W.C. I.
67. The Short Story : Seon' O. Faslain.
68 Character and Society In Shakespeare . Sewell W. A Oxford.
69. The Dark Comedy: J. L Styan (Scond Edition) Cambridge University press, London. N. W.I.
70 World Drama : A. Nicoll (1961) George G. Harrap & Co. Ltd.,
71. What is Literature. Sartre. Methuen & Co. London.

१९. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास : डा० लक्ष्मीनारायण लाल साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद ।
२०. सिद्धान्त और अध्ययन : गुलाबराय : प्रतिभा प्रकाशन; दिल्ली
२१. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला—डा० रामेश्वर दयाल खण्डेलवाल; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-६ ।
२२. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच : सीताराम चतुर्वेदी; हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ।
२३. नयी कविता के प्रतिमान : श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा : भारती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद ।
२४. साहित्यालोचन :डा० श्यामसुन्दर दास : इंडियन प्रेस, लिमिटेड प्रयोग ।
२५. हिन्दी नाटको पर पाश्चात्य प्रभाव : डा० श्रीपति शर्मा ; विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
२६. साहित्य और मनोविज्ञान : देवेन्द्र इस्सर ; बुक हाइव ; नई दिल्ली-५
२७. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर : अक्षर प्रकाशन, ३।३६, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६
२८. हिन्दी साहित्य कोश : भाग-१--२ : संपादक-धीरेन्द्र वर्मा ; ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।
२९. मानव मूल्य और साहित्य : डा० धर्मवीर भारती ; भारतीय ज्ञान पीठ, काशी
३०. कुछ विचार : प्रेमचन्द (चतुर्थ संस्करण); सरस्वती प्रेस, बनारस ।
३१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (पंचमावृत्ति) सरस्वती मदिर, वाराणसी ।
३२ आधुनिक साहित्य : नन्द दुलारे वाजपेयी (तृतीय संस्करण) भारती-भण्डार, इलाहाबाद।
३३. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास : डा० सोमनाथ गुप्त (चौथा संस्करण) हिन्दी भवन, ३१२, इलाहाबाद।
३४. हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : डा० वेदपाल खन्ना 'विमल' श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड, १ दिल्ली-७
३५ हिन्दी नाटककार . प्रो० जयनाथ 'नलिन' : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-७
३६. आधुनिक हिन्दी नाटको का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डा० गणेशदत्त गौड़, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा ।
३७. हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल (पाचवा संस्करण), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
३८. हिन्दी नवलेखन : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
३९. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशकर प्रसाद (पंचम संस्करण), भारती भण्डार, इलाहाबाद ।
३ युग : डा० रामविलास शर्मा : विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।
परिप्रेक्ष्य : नेमिचन्द्र जैन : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६

४१ [illegible] डा० [illegible] तिवारी ; हिन्दी भवन, [illegible]।
४२ [illegible] डा० [illegible] ; [illegible] रत्न भंडार, आगरा।
४३ [illegible] : [illegible] मिश्र ; पर्ल पब्लि-केशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई-१
४४ [illegible] : [illegible], दिल्ली।
४५ [illegible] : [illegible] ; [illegible] विद्या मन्दिर, वाराणसी-१
४६ [illegible] और [illegible] . डा० [illegible] चतुर्वेदी भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
४८. साहित्य सहचर · आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी , नैवेद्य निकेतन ; वाराणसी-५
४९ विचार और अनुभूति : डा० नगेन्द्र ; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
५०. प्रसाद के नारी चरित्र : डा० देवेश ठाकुर ; नवयुग प्रकाशन · दिल्ली-६
५१ प्रसाद के नाटकीय पात्र : प० जगदीश नारायण दीक्षित साहित्य निकेतन कानपुर
५२ प्रसाद-साहित्य : प० परमानन्द शर्मा , युग-प्रकाशन-समिति, कलकत्ता।
५३ साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : डा० रघुवंश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
५४. विश्व के रंग . सम्पादक : देवीशंकर अवस्थी, ज्ञानपीठ प्रकाशन।
५५. चतुरंग प्रभाकर माचवे ; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
५६. हिन्दी नाटक : डा० बच्चन सिंह ; साहित्य भवन प्राइवेट लि०,इलाहाबाद।
५७ मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा डा० सीताराम जायसवाल, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ।
५८. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास . डा० दशरथ ओझा, राजपाल ऐण्ड संस दिल्ली।
59. An Introduction to the study of literature : William Henry Hudson (Second Edition, April; 1954)-George G Harrap & Co. Ltd. London
60 Dictionary of world Literature;
61. The life of the Drama . Eric Bentley; Methuen & Co. Ltd., London.
62. Theory of Drama : . Nicoll, London, 1931.
63. Play Making-William Archer.
64. Aspect of the Novel : Forster
65. Character Reading from the Face : Groce A. Rees. D. B. Taraporevala Sons & Co. Pvt. Ltd , Bombay-I
66 Child Behaviour : Frances L. ILG and Louise- Bates Ames Hamish Hamilton Ltd., London W.C. I.
67. The Short Story : Seon' O. Faslain.
68. Character and Society in Shakespeare ; Sewell W. A. Oxford.
69. The Dark Comedy: J. L Styan (Scond Edition) Cambridge University press, London. N. W.I.
70 World Drama : A. Nicoll (1961) George G. Harrap & Co. Ltd.,
71. What is Literature. Sartre. Methuen & Co. London.

72. Leadership, Bureaucracy and Planning in India : P. K. B. Nayar. Associated Publishing House, 7717, New Delhi-5,
73. The Craft of Literature : W. B. Williams.
74. Contemporary Indian Literature : A. Symposium Sahitya Akademi, New Delhi.

पत्र-पत्रिकाएं

धर्मयुग . ६ जून, १९६८, ६ नवम्बर; १९६६, ७ जनवरी, १९६८ ; १३ अगस्त, १९६७, २७ जुलाई, १९६८ ; १४ सितम्बर, १९६९, २३ फरवरी, १९६६; ११ जनवरी, १९७०, ४ जून, १९६७; २ जून, १९६८, २० अगस्त, १९६७, २८ अप्रैल, १९६८ ।
ज्ञानोदय : मई,१९६७, अक्तूबर,१९६६।
दिनमान · १३ अगस्त,१९६७; १९ मार्च,१९६६, २३ जनवरी,१९६६; २८ अप्रैल, १९६८, ७ सितम्बर, १९६६; ५ अप्रैल, १९७०; ६ नवम्बर, १९६६; १३ जुलाई,१९६६, ६ जुलाई,१९६६, २५ जून,१९६७; १८ सितम्बर-१९६७।
साप्ताहिक हिन्दुस्तान: ४ जनवरी, १९७०; ११ जनवरी, १९७०; ४जून, १९६७।
आलोचना: वर्ष-२, अक ३; जुलाई,१९६४;जुलाई-सितम्बर, ६७; जनवरी, १९६६।
नाट्य . मार्च १९६२।
नटरंग : खड-२, अक-७; वर्ष १, अंक-१, संयुक्तांक १०-११, वर्ष ३. अक-६।
माध्यम : मई, १९६६।
The Hindustan Times (Sunday) Nov. 2, 1969.
Enact . 13-14, Annual 1968; March 1969, April 1969 June 68, Oct.67

(ख) समीक्षित नाटकों की सूची

१. लहरों के राजहस : मोहन राकेश; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२. आधे-अधूरे : मोहन राकेश—१९६९ ; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
३. रातरानी · डा० लक्ष्मीनारायण लाल नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
४. दर्पन . डा० लाल (द्वितीय सस्करण; १९६६) नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
५. सूर्यमुख . डा० लाल , १९६८; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली ।
६. कलकी : डा० लाल—१९६९; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
७. शुतुरमुर्ग : ज्ञानदेव अग्निहोत्री—१९६८; ज्ञानपीठ प्रकाशन।
८. हत्या एक आकार की : ललित सहगल; १९६८—समकाल प्रकाशन, दिल्ली।
९. पहला राजा : जगदीश चन्द्र माथुर, १९६९; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

(ग) कुछ अन्य चर्चित नाटकों की सूची

१. मिस्टर अभिमन्यु . डा० लक्ष्मीनारायण लाल (अप्रकाशित)
२. त्रिशंकु : बृजमोहन शाह (अप्रकाशित)
३. *बिना दीवारों के घर* : मन्नू भंडारी (१९६५); अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।
७. आत्मजयी : कुँवर नारायण (१९६५) भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
५. उर्वशी : रामधारी सिंह दिनकर (१९६१) उदयाचल, पटना।
६. उत्तर प्रियदर्शी : अज्ञेय (१९६७); अक्षर प्रकाशन, दिल्ली।
७ एक कंठ विषपायी (१९६३) दुष्यन्त कुमार; लोक भारती प्रकाशन,इलाहाबाद।